आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन (1870–1900)

AN ANALYTICAL STUDY OF THE TRENDS OF EARLY HINDI NOVELS (1870-1900)

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

शोध निर्देशक
प्रो. ओमप्रकाश सिंह

शोधकर्ता
प्रकाश दान चारण

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated **18 April 2017**

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph. D. Thesis entitled '**AN ANALYTICAL STUDY OF THE TRENDS OF EARLY HINDI NOVELS (1870-1900)**' by me is an original research work and it has not been previously submitted for any other degree or any other University/Institution.

Prkash Dan Charan
(Research Scholar)

Prof. Omprakash singh
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Dr. OMPRAKASH SINGH
Research Scientist
Centre of Indian Languages
S.L.L.&C.S.
Jawaharlal Nehru University
New Delhi - 110067

Prof. Gobind Prasad
(Chairpersion)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

माँ के लिए ...

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका i – vii

पहला अध्याय: उपन्यास की अवधारणा और हिन्दी उपन्यास 1-32

1. उपन्यास का उदय
2. उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा
3. उपन्यास की भारतीय अवधारणा

दूसरा अध्याय : उपन्यास विधा और हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास 33-71

1- विधागत अस्पष्टता
2- हिन्दी का पहला उपन्यास
3- आरम्भिक हिन्दी उपन्यास : विकास के सोपान

तीसरा अध्याय: आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का सैद्धांतिक पक्ष 72-121

1- समाजसुधार
2- मनोरंजन
3- उपदेश
4- इतिहास और फंतासी
5- यथार्थ

चौथा अध्याय: आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का प्रवृत्तिपरक विश्लेषण 122-202

1- समाज सुधार (देवरानी जेठानी की कहानी, वामाशिक्षक, भाग्यवती)
2- मनोरंजन (चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति)
3- उपदेश (परीक्षा गुरु, श्यामास्वप्न, धूर्त-रसिकलाल, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, नूतन ब्रह्मचारी)
4- इतिहास और फंतासी (चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति)
5- यथार्थ (नि:सहाय हिन्दू, सौ अजान एक सुजान, घराऊ घटना,)

पाँचवां अध्याय: आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान 203-227

1- कथात्मक अन्विति
2- कलात्मक पुनर्निर्मिति
3- चमत्कारप्रियता
4- भाषिक संरचना

उपसंहार 228-237

संदर्भ ग्रन्थ सूची 238-248

भूमिका

उपन्यास आधुनिक साहित्य की मुख्य गद्य विधा है। उपन्यास का उद्भव बदलते समाज और संस्कृति की विकासवादी दृष्टि का सूचक है। योरोप में उपन्यास पुनर्जागरण की संस्कृति की साहित्यिक अभिव्यक्ति बन कर सामने आता है। भावात्मकता के स्थान पर जब तार्किकता का दृष्टिकोण प्रभावी होने लगा तब पद्य की सीमाओं के बाहर गद्य की शक्ति लिए उपन्यास का उद्भव हुआ। पुनर्जागरण ने मनुष्य में अपार शक्ति और सम्भावनाएं तलाशी, उपन्यास उन्हीं शक्ति और सम्भावनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। पुनर्जागरण के चिन्तन ने समाज की संस्कृति में आमूल-चूल परिवर्तन किये। इन परिवर्तनों को साधने के लिए साहित्य का तत्कालीन स्वरूप पर्याप्त नहीं था। उपन्यास समाज में आये बदलाव की उपज है। यही कारण है कि उपन्यास अपनी साहित्यिक भूमिका में बदलाव की संस्कृति का वाहक बनता है। उपन्यास की यह पहचान उसके उद्भव के साथ जुड़ी है। उपन्यास गतिशील समाज की प्रगतिशील मानसिकता के साथ इस प्रकार जुड़ा है कि वह एक तरफ स्वयं सामाजिक बदलावों की उपज है तो दूसरी तरफ अपने विजन (vision) में इन बदलावों का प्रेरक भी। उपन्यास बदलते समाज की बदलती संस्कृति का प्रतिधित्व ही नहीं करता है अपितु समाज बदलने की चिन्तना का हेतु भी बनता है।

वैसे तो भारत में कथा-आख्यायिका के रूप में उपन्यास से मिलती-जुलती विधा बहुत पुरानी है परन्तु उपन्यास का वर्तमान स्वरूप नवजागरण की चेतना का परिणाम है। नवजागरण की चेतना बंगाल से महारष्ट्र होती हुई पुरे भारत में फैली इसी क्रम में उपन्यास का भी प्रसार हुआ। यहाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि भारतीय उपन्यास अंग्रेजी उपन्यास से प्रेरित हो सकता है, पर उसकी नकल नहीं। जिस प्रकार योरोपीय

पुनर्जागरण और भारतीय नवजागरण दो भिन्न परिस्थितियों की उपज है वैसे ही भारतीय उपन्यास की भी पश्चिम के 'नॉवेल' से भिन्न पृष्ठभूमि है। एक तरफ उसकी प्रेरणा अंग्रेजी उपन्यास है तो दूसरी तरफ वह अंग्रेजी संस्कृति से टकराहट भी लिए रहता है। वह 'नवल कथा' के रूप में अंग्रेजी उपन्यास का शिल्प अपनाता है तो विषयवस्तु के स्तर पर सीधे भारतीय कथा-आख्यायिका से जुड़ता है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में हिन्दी उपन्यास के उद्भव और उसकी पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उपन्यास की भारतीय और पश्चिमी अवधारणा के आलोक में हिन्दी उपन्यास की विषयवस्तु और शिल्प के वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया गया है। शोध का शीर्षक "आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन" है जो सन् 1870 से 1900 ई० के बीच के आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों पर आधारित है।

यह अध्ययन पाँच अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'उपन्यास की अवधारणा और हिन्दी उपन्यास' शीर्षक से हैं। इस अध्याय में उपन्यास के उदय को वैश्विक परिदृश्य में देखते हुए उपन्यास की पाश्चत्य और भारतीय अवधारणा पर विचार किया गया है। इस आधार पर यह अध्याय तीन उप - अध्यायों में वर्गीकृत है जो क्रमश: 'उपन्यास का उदय', 'उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा' और 'उपन्यास की भारतीय अवधारणा' के रूप में है। इसमें आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से उपन्यास की भारतीय पहचान पर तार्किक दृष्टि से मंथन किया गया है। उपन्यास की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन करते हुए उपन्यास विधा के मौलिक पक्ष को पश्चिमी और भारतीय परिस्थतियों के संदर्भ उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। इसमें अनुभूति की जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास के लोकतांत्रिक स्वरूप तथा साहित्यिक सम्भावनाओं पर विचार करते हुए

उपन्यास की विश्वसनीयता के पाठकीय दृष्टिकोण को सामने लाने प्रयास भी किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के दूसरे अध्याय 'उपन्यास विधा और हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास' में आरम्भिक उपन्यासों के तकनीकी पक्ष पर विचार हुआ है। यह अध्याय भी तीन उप-अध्यायों में विभक्त है जो क्रमश: 'विधागत अस्पष्टता', 'हिन्दी का पहला उपन्यास' और 'आरम्भिक हिन्दी उपन्यास : विकास के सोपान' शीर्षक से हैं। यह अध्याय उपन्यास विधा की जटिलता और आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के रूपबंध पर आधारित है । विधागत अस्पष्टता ने जहाँ एक तरफ उपन्यास लेखन को सैद्धांतिक सीमाओं से मुक्त रखा वहाँ दूसरी तरफ हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस को 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' की किंवदन्ती से बाहर भी नहीं निकलने दिया। इस अध्याय में हिन्दी के पहले उपन्यास के सम्बन्ध में कालक्रम, विजन (vision) और शिल्प की नवीनता के आधार पर विचार करते हुए, हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस को नये परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया है। कालक्रम, विजन और शिल्प के त्रिआयामों की दृष्टि पहले मौलिक उपन्यास की बहस के बीच निष्पक्ष, तार्किक और सन्तुलित निष्कर्ष तक पहुँचने की कोशिश हुई है।इस दृष्टि से 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'भाग्यवती' और 'परीक्षा गुरु' का नया विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। 'आरम्भिक हिन्दी उपन्यास: विकास के सोपान' उप-अध्याय में आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सुधारवादी,मनोरंजन या घटना प्रधान और रोमांस आधारित वर्गीकरण करते हुए इनकी प्रवृत्तियों को उद्घाटित किया गया है।

शोधप्रबन्ध के तीसरे अध्याय 'आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का सैद्धान्तिक पक्ष' में हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों को तत्कालीन साहित्यिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की गयी है।यह अध्याय नवजागरण की चेतना और हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों के रचनात्मक

सम्बन्ध पर आधारित है। सामाजिक बदलाव की दशा और दिशा की अभिव्यक्ति लिए उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियाँ जिस रूप में पाठक तक पहुँची उसका सैद्धांतिक विवेचन और विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्तियों के सैद्धांतिक पक्ष को 'समाजसुधार', 'मनोरंजन', 'उपदेश', 'इतिहास और फंतासी' और 'यथार्थ' जैसे उप-अध्यायों में विभक्त किया गया है। जीवन के विविध रंगों और सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करता हिन्दी उपन्यास जिस दिशा में आगे बढ़ रहा था उसके सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को जानने-समझने की कोशिश की गयी है। हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों का विशद विवेचन करते हुए उपन्यास की सामजिकता का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नवजागरण की चेतना की साहित्यिक अभिव्यक्ति आरम्भिक उपन्यासों में जिस रूप में अभिव्यक्त हो रही थी और तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराईयों का जो समाधान उपन्यासकार प्रस्तुत कर रहे थे उसके स्वरूप को भी समझने का प्रयास किया है। समाजसुधार, मनोरंजन, यथार्थ और उपदेश के बीच रोमांस की ऐतिहासिक फंतासी की प्रवृत्ति को उसकी सामाजिक उपादेयता और साहित्यिक आवश्यकता के संदर्भ में देखा गया है। सामाजिक मर्यादाओं और नैतिक मूल्यों के संरक्षण में रोमांस की फंतासी को उपन्यास की भारतीय पहचान या उसकी भारतीयता के रूप में देखा है। इस तथ्य को देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के संदर्भ में देखते हुए उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है।

चौथा अध्याय 'आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का प्रवृत्तिपरक विश्लेषण' तीसरे अध्याय के सैद्धांतिक पक्षों का विवेच्य उपन्यासों के संदर्भ व्यावहारिक विश्लेषण है। यह अध्याय आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का उपन्यास विशेष के संदर्भ में विवेचन है। किस उपन्यास में कौनसी प्रवृत्ति अधिक मुखर है उसकी पहचान करते हुए प्रवृत्ति विशेष के आलोक में उपन्यासों के वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया गया है। इस अध्याय में मोटे-मोटे

रूप में प्रवृत्तियों के सैद्धांतिक पक्ष के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण किया गया है। उपन्यास विशेष में एक से अधिक प्रवृत्तियों की स्थिति में एक ही उपन्यास में अलग-अलग प्रवृत्ति का प्रधान और गौण रूप में विवेचन किया गया है। इस अध्याय आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों को उपन्यास विशेष के संदर्भ में सन् 1870 -1900 ई. के बीच प्रकाशित व शोधप्रबंध के लिए चयनित उपन्यासों से उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का पाँचवां व अन्तिम अध्याय 'आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान' शीर्षक से है। इस अध्याय को क्रमश: 'कथात्मक अन्विति', 'कलात्मक पुनर्निर्मिति', 'चमत्कारप्रियता', 'भाषिक संरचना' जैसे उप-अध्यायों में बांटा गया है। इसमें आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के शैल्पिक वैशिष्ट्य को कथा-आख्यायिका की परम्परा के साथ तुलनात्मक रूप से देखते हुए उपन्यास के शिल्प विधान की नवीनता को पहचाना गया है। इसमें आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों द्वारा कथा की कलात्मक पुनर्निर्मिति के लिए उपन्यास की घटनात्मक विश्वसनीयता और यथार्थ के आग्रह के साथ जो शैल्पिक प्रयोग किये गये हैं, उन्हें चिन्हित करते हुए हिन्दी उपन्यास की विशिष्टता को उद्घाटित किया गया है। गद्य साहित्य के शिल्प की शक्ति उसकी भाषा होती है। विचार प्रधान गद्य में भाषिक संरचना उसकी सफलता में अहम भूमिका निभाती है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने भाषा को उपन्यास की कथा और चरित्र के साथ जोड़ जिस सजगता परिचय दिया, वह अपने में खास महत्त्व रखता है। इस दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की भाषिक संरचना का विश्लेषण भी इस अध्याय में किया गया है।

'आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन' एक तरफ विवेच्य उपन्यासों के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करता है तो दूसरी तरफ हिन्दी उपन्यास के वर्तमान स्वरूप का आधार निर्माण करने वाली परम्परा

और प्रक्रिया की समझ भी विकसित करता है। हिन्दी उपन्यास के विकास के आरम्भिक चरण के साथ उपन्यास की जातीय परम्परा को जानने-समझने में यह अध्ययन सहायक होगा। आज हिन्दी उपन्यास सफलता के जिस सोपान पर है उस तक पहुँचने की सीढ़ी का पहला पायदान आरम्भिक हिन्दी उपन्यास ही थे। जिस प्रकार परम्परा कभी पूर्णत: मिटती नहीं है, वह परिस्थितियों के अनुसार अपना परिमार्जन कर लेती है उसी प्रकार वर्तमान हिन्दी उपन्यास भी आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की परम्परा का परिष्कार है बहिष्कार नहीं। हिन्दी उपन्यास विधा ने पश्चिमी 'नॉवेल' के अनुकरण के साथ उपन्यास की भारतीय जातीय परम्परा का जो सन्तुलन स्थापित किया वह अपने आप में अनूठा है। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का विकास हमें आश्वस्त करता है कि हिन्दी उपन्यासकारों ने सदैव साहित्यिक विवेक का परिचय देते हुए ग्रहण-त्याग के मूल्यों को भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में ही फलीभूत किया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध शोध की सीमाओं से अधिक मेरे विवेक और समझ की सीमाओं में प्रस्तुत किया गया है। मैं चिन्तन की मौलिकता का दावा तो नहीं करता हूँ परन्तु विनम्रता के साथ यह जरूर कह सकता हूँ कि लेखन की मौलिकता का ईमानदारी से पालन किया है। उपन्यास की समझ विकसित करने में मेरे गुरुवर प्रो० ओमप्रकाश सिंह का ज्ञान मेरे लिए अथाह सागर की भांति है, बस मैं उनसे इतना भर ले पाया हूँ कि मेरा काम चल जाये। गुरुवर के ज्ञान को अभिव्यक्ति देने के लिए शब्द बौने पड़ जाते हैं और मेरे ज्ञान ग्रहण की अभिव्यक्ति के लिए शब्द बहुत बड़े हैं। अत: दोनों स्थिति में मौन रहना ही सार्थक है क्योंकि साहित्य की सीख भी यही है कि मौन भी एक अभिव्यक्ति है, उतना ही कहो जितना तुम्हारा सच है। फिर भी इस प्रसंग का जिक्र करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ कि ज्ञान की सीमा के बीच उनके नाम के शब्द मेरे हिस्से भी आते हैं।

शोध कार्य के सम्बन्ध में परिवारजनों व मित्रों का जो सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला उसका आभार शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता हूँ। फिर भी कान्ता सम्मित उपदेश देने वाली सहधर्मिणी कुसुम की प्रेरणा एवं लाडले योजित का प्यार इस शोध के शब्द-शब्द में विद्यमान है और माँ के बारे में क्या कहूँ, माँ तो बस माँ होती है। उनका आशीर्वाद शोधप्रबन्ध के लेखन में फलीभूत हुआ है। मेरे जे०एन०यू० प्रवास व शोधप्रबन्ध को पूर्णता की ओर ले जाने में मित्र डॉ०मनीष शुक्ल, सुनील तावणीयां एवं सर्वेन्द्र का सहयोग मेरे लिए विशेष महत्त्व रखता है।

पुनश्च: विनम्रतापूर्वक अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए यह शोधप्रबन्ध वागेश्वरी-वीणापाणि माँ शारदे के चरणों में अर्पित करता हूँ।

प्रकाश दान चारण

बैशाख, कृष्णपक्ष-सप्तमी, वि०संवत् २०७४

पहला अध्याय

उपन्यास की अवधारणा और हिन्दी उपन्यास

1- उपन्यास का उदय

2- उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा

3- उपन्यास की भारतीय अवधारणा

उपन्यास की अवधारणा और हिन्दी उपन्यास

आज उपन्यास हमारे सामने इतने रूपों में विद्यमान है कि वह जीवन के समान जटिल तथा बहुमुखी हो गया है। उपन्यास के आरम्भिक काल से ही उपन्यासकार उसकी रचना में स्वच्छन्दता की माँग करता रहा और उसे मनमाना रूप देता आया है। अपनी रचना 'टाम जान्स' में फीलिंडंग ने बड़ी निर्भीकता के साथ घोषणा की थी कि मैं वास्तव में साहित्य के नए क्षेत्र का प्रवर्त्तक हूँ, इसलिए उसमें जो भी नियम चाहूँ बना सकता हूँ। ("As I am; in reality, the founder of new province of writing so I am at liberty to make what laws I please there in")[1] इसी प्रकार अपने आलोचकों के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव दिखाते हुए हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री ने भी अपने उपन्यास 'चन्द्रकान्ता'–संतति' में लिखा था कि ''कुछ दिन की बात है कि मेरे मित्रों ने संवादपत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकांता का) कथानक सम्भव है या असंभव। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। 'चन्द्रकान्ता' में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उसकी सच्चाई–झुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत इसलिये कि उसका पाठ कौतूहलवर्द्धक हो।''[2]

उपन्यास के रूपबंध की जटिलता या अनेकरूपता, उपन्यासकार की इसी स्वच्छंदता का ही परिणाम है इसी प्रवृत्ति ने उपन्यास को अन्य विधाओं से अलग किया और अपने रूप के लिए आलोचकों की बहस में भी छाया रहा।

---

[1] नगेन्द्र, (संपा०),हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती, पृष्ठ 176

[2] देवकीनंदन खत्री, 'चन्द्रकान्ता सन्तति', चौबीसवाँ पृष्ठ 85-86

'नावेल' नाम से ही स्पष्ट है कि साहित्य में उपन्यास एक नयी विधा के रूप में आया। इसका जन्म कविता और नाटक के पश्चात हुआ। हिन्दी साहित्य में भी उपन्यास का आविर्भाव बहुत बाद में हुआ। "मानव–जीवन की जटिल समस्याएँ कविता और नाटक में न समा सकीं और मानव की अनुभूति धारा सब प्रकार के बाँध तोड़, कविता और नाटक की शास्त्रीय सीमाओं को लांघकर अपने प्राकृत रूप में बह निकली। अनुभूति की इस प्रकृत अभिव्यक्ति को 'उपन्यास' की संज्ञा मिली।"[1] उपन्यास ने कल्पनाओं के स्थान पर मानव–जीवन की यथार्थताओं को अपना विषय बनाया और अपनी विशालता से मानव विकास के तीनों क्षेत्रों भावात्मक, बौद्धिक और वैज्ञानिक को समा लिया। दर्शन और विज्ञान को उनकी सीमाओं से निकाल कर साहित्य के अनुकूल ढालने में उपन्यास ने जो कार्य किया, वह अभूतपूर्व था। उससे मानव को लगने लगा कि उसकी अनुभूति को उपन्यास में ही सम्पूर्ण अभिव्यक्ति मिलेगी।

गीता में वाङ्मय शब्द की जो परिभाषा मिलती है, उसके अनुसार साहित्य के तीन प्रधान तत्त्व ठहरते हैं – सत्यं, प्रियं और हितं। सत्यं शिवं सुन्दरं अरस्तु के द ट्रयु, द गुड और द ब्यूटीफुल का उलथा मात्र है जो गीता के सत्यं, प्रियं और हितं पर आधारित है। प्रत्येक कृति में ये तीनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं, पर वे सदा साम्यावस्था में नहीं रहते। किसी में 'प्रियं' प्रधानता ग्रहण कर लेता है, किसी में हितं मुख्य हो जाता है और किसी में सत्यं मुख्य रूप से अवस्थित होता है। बीसवीं शताब्दी से पहले के हिन्दी उपन्यास का मूलाधार प्रियं तत्त्व ही था। उस समय उपन्यास में समाज की पहली माँग लोकरंजन थी, परन्तु लगातार परिवर्तन प्रक्रिया के कारण उपन्यासों की प्रवृत्तियों में लगातार बदलाव हो रहे थे, जो उपन्यासों के विकास को नई दिशा की ओर गतिमान कर नई परिभाषा प्रदान कर रहे थे।

[1] नगेन्द्र,(संपा०), हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती, पृष्ठ 177

हिन्दी में उपन्यास का आरम्भ अंग्रेजी के अनूदित उपन्यासों से माना जाता है। सन् 1853 ई० में वंशीधर द्वारा थामस डे के लोकप्रिय उपन्यास 'सैण्डफोर्ड एण्ड मर्टन' का अनुवाद किया गया तथा डॉ० जानसन के उपन्यास रासेलाल का हिन्दी अनुवाद सन् 1879 ई० में किया गया। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। "सन् 1877 ई०श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा था, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी। यह अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास चाहे न हो, किन्तु विषय–वस्तु की नवीनता की दृष्टि से इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास अवश्य कहा जा सकता है।"[1] साथ ही कुछ विद्वान लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' को भी प्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं। प्रथम मौलिक हिन्दी उपन्यास किसे माना जाए इस बहस पर चर्चा अगले अध्याय में करेंगे।

[1] रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ 146

(1) उपन्यास का उदय

आधुनिक युग की मुख्य गद्य विधा उपन्यास का उदय पुनर्जागरण के साहित्यिक परिणाम के रूप में माना जाता है। विचारों की अभिव्यक्ति का सबसे चर्चित और स्वीकृत रूप उपन्यास के रूप में सामने आया। बदलते समाज की साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उपन्यास का उदय दूसरे माध्यमों से अधिक चर्चित भी रहा तथा अधिक असरदायक भी। उपन्यास अपने नए रूप में भले ही नयी विधा हो परन्तु पाठक के लिए इसका नयापन कलात्मक आकर्षण न होकर बदलते मूल्यों की नयी समझ विकसित करने का सबसे सरल और सशक्त माध्यम बना। उपन्यास के जिस रूप को आज स्वीकार किया जाता है उस दृष्टि से उपन्यास की पाश्चात्य परम्परा को समझने की जरूरत है। भारतीय उपन्यास का भारतीय रूप भी इस दृष्टि से अपना महत्त्व रखता है परन्तु उपन्यास के उदय को समझने के लिए पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि को समझें तो एक सही दिशा और उपन्यास के विकास की सही राह खोजी जा सकती है। राह खोजने का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे रास्ते नकार दिए जायें। जिस प्रकार से पुनर्जागरण ने समाज के बदलाव के बिन्दु समाज के भीतर से ही लिए उसी प्रकार उपन्यास भी साहित्यिक विधाओं से ही निकल कर आया। यही कारण है की उपन्यास का नयापन कला तक ही सीमित न रह कर मूल्यों के स्तर पर भी समाज में स्वीकृत हुआ। पुनर्जागरण के साथ उपन्यास के उदय का सम्बन्ध उपन्यास की स्वीकृति से होना चाहिए, न की प्रयोग की मानसिकता से।

उपन्यास का उदय कलात्मकता की चाह से नहीं मूल्यों की समझ से जुड़ा है। यही कारण है कि उपन्यास विधा का नयापन चौंकाने वाला न हो कर सहज बना रहा तथा पाठक की स्वीकृति भी सहज ही रही। उपन्यास के उदय को जानने के लिए समाज की मनोदशा को जानना भी जरूरी है इसके लिए

पुनर्जागरण सर्जित वातावरण की समझ से हम एक सही दिशा की ओर बढ़ सकते है। पुनर्जागरण का यथार्थवाद ही उपन्यास के यथार्थ का प्रेरक है।

उपन्यास अपने वर्तमान रूप में भी अनेक प्रयोगों से गुजरने के बाद भी जिस यथार्थ की शक्ति पर टिका है वह उसे पुनर्जागरण से ही मिली है। अन्य कलाओं की भांति यथार्थ का चित्रण साहित्य में भी पुनर्जागरण का ही प्रभाव है। उपन्यास का मूल भी यही यथार्थवाद है। जिस समाज में यथार्थवाद पहले आया उस समाज में उपन्यास भी पहले पहल रचा गया। अगर इस तथ्य पर विचार करें तो उपन्यास के उदय की पाश्चात्य और भारतीय परम्परा को तार्किक दृष्टि से समझने की एक सार्थक कोशिश हो सकती है अन्यथा मेरा पहले, तेरा बाद का सिद्धांत ही चलता रहेगा। जिससे उपन्यास की समझ शायद ही अपने लक्ष्य तक पहुँच पाए।

उपन्यास पुनर्जागरण की साहित्यिक सन्तान है। उपन्यास विधा का आरम्भिक रूप इटालियन लेखक बुकासियो की रचना 'डिकैमरान' में देखा जा सकता है। उपन्यास बदलते समाज और बदलती संस्कृति के मूल्यों का सच्चा प्रतिनिधि बनकर आधुनिक युग की नयी विधा के रूप में विकसित हुआ। उपन्यास अपने उद्भव काल से ही विकासवादी सोच का वाहक रहा है। यही कारण है कि उपन्यास की सामाजिक भूमिका दूसरी विधाओं की तुलना में अधिक असरदायक है। उपन्यास को भले ही आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाये फिर भी उपन्यास अपने स्वरूप और संवेदना के कारण महाकाव्य से अधिक असरदायक है। महाकाव्य को अपने कलेवर में समेटता हुआ भी उपन्यास अपने प्रभाव के स्तर पर महाकाव्य से अधिक प्रभावी बन जाता है। महाकाव्य की भावुकता को समाहित करता हुआ भी उपन्यास वैचारिकता के स्तर पर मानव के लिए नयी भूमिका तैयार करता है। साधारण का यथार्थ भरा चित्रण उपन्यास की शक्ति है। जो उसे महाकाव्य से अलगाती भी है। महाकाव्य में एक

असाधारण भाव हावी रहता है वहीं उपन्यास अपने साधारणपन में भी अधिक यथार्थवादी और आकर्षक लगता है।

उपन्यास में सत्य और मिथ को साधने की शक्ति ही उसे अधिक सामाजिक परिवर्तनगामी विधा बनाती है। इस संदर्भ में राल्फ फॉक्स ने उपन्यास की सार्थकता को नए रूप में परिभाषित किया है "उपन्यास केवल कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य है ऐसी पहली कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है।"[1]

उपन्यास जीवन के अनुभूत सत्य को सर्वानुभूत करने की प्रक्रिया है। उपन्यास में जीवन अपने यथार्थ के साथ संभावनाओं को भी लिए रहता है। यथार्थ और कल्पना के आदर्श का संतुलन अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास में अधिक प्रभावी रूप में रहता है।

उपन्यास में सामाजिक जीवन के विविध पक्ष अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। मनोरंजन से लेकर उपदेश तक की प्रवृत्तियों को उपन्यास का रूपबंध अपने में समाहित करने की क्षमता रखता है। उपन्यास की विशेषता की ओर संकेत करते हुए रामदरश मिश्र लिखते हैं- "उपन्यास आज के साहित्य की सबसे अधिक प्रिय और सशक्त विधा है। कारण यह है कि उपन्यास में मनोरंजन का तत्त्व तो अधिक रहता ही है, साथ ही साथ जीवन को उसकी बहुमुखी छवि के साथ व्यक्त करने की शक्ति और अवकाश होता है।"[2] उपन्यास के उद्भव के लिए पुनर्जागरण द्वारा सृजित पूँजीजीवादी व्यवस्था की भी एक विशेष भूमिका रही है। पश्चिम में उपन्यास के उद्भव को स्पष्ट करते हुए रैल्फ फॉक्स लिखते हैं - "पूँजीजीवादी सभ्यता ने संसार की कल्पना प्रधान संस्कृति को जो भेंटे दी है उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उपन्यास।"[3]

---

[1] रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोकजीवन, पृष्ठ संख्या 55

[2] रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास: एक अंतर्यात्रा, पृष्ठ -11

[3] रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोक-जीवन, पृष्ठ 53

उपन्यास के उद्भव की अवधारणा के पीछे पूँजीवादी सामाजिक संस्कृति एक बड़ा कारण है। हम यह भी कह सकते है की उपन्यास पूँजीवादी समाज की अनिवार्य उपज है यानि पूँजीवादी सभ्यता में यथार्थ के जो नए स्तर, नये आयाम और भौतिकवादी चिंतन, मूल्य, प्रश्न उभरे उन्हें व्यक्त करने में परम्परा से चली आती हुई अन्य विधाए पूर्णरूप से समर्थ नहीं थी। ऐसे में उपन्यास एक आन्दोलन की उपज है यही कारण है कि उपन्यास अपने मूल में यथार्थवादी है।

उपन्यास के विकास के लिए पुनर्जागरण की संस्कृति की भूमिका को गोपालराय गद्य और मुद्रण यन्त्र के विकास के परिणाम स्वरूप श्रोता से पाठक का सफर मानते हैं - "उपन्यास के जन्म के पूर्व 'कथा' श्रव्य ही होती थी। कथा और उपन्यास का एक अंतर प्रथम का श्रव्य और दूसरे का पाठ्य होना भी है। अत: उपन्यास के अंकुरण और पल्लवन के लिए जरूरी बुनियादी संरचना के रूप में गद्य का विकास और मुद्रण यन्त्र का आविष्कार आवश्यक था। यूरोप में तेरहवीं शताब्दी में मुद्रण यन्त्र का आविष्कार हुआ, जिससे गद्य के विकास में अभूतपूर्व तेजी आई। सामंतवाद के स्थान पर पूँजीवाद के उदय का भी समय लगभग यही है। पूँजीवाद के साथ मध्यवर्ग का भी विकास हुआ, जिसने अपनी विशालता और बौद्धिक जागरूकता के कारण विशाल पाठक वर्ग का भी रूप ले लिया। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में मध्यवर्गीय पाठक वर्ग पैदा हो गया था, जिसने वहां उपन्यास के उदय के लिए बुनियादी संरचना के निर्माण में योग दिया। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही यूरोप में 'उपन्यास'अस्तित्व में आ गया।"[1]

उपन्यास का स्वरूप इतना शक्तिशाली है कि इसमें साहित्य की सारी विधाओं की छवियों को सन्निहित कर लेने की शक्ति है। उपन्यास में कथा तो है ही साथ ही साथ अवसर-अवसर पर वह काव्य की सी भावुकता और संवेदना

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 13

जगाकर पाठक को अपने में तल्लीन करता है, उपन्यास में निबन्ध की सी चिंतन मूलकता भी है। लेखक स्वयं निबन्धकार की तरह मुद्दों पर विचार करता चल सकता है। उपन्यास में नाटक की सी संवाद योजना होती है। उपन्यास का स्वरूप ही उसे अधिक लोकतान्त्रिक विधा बनाता है। नाटक, कहानी, काव्य, निबंध की तरह उपन्यास के विस्तार की कोई सीमा नहीं बाँधी गयी है। उपन्यास जितना चाहे फैल सकता है और संगठित रूप से जीवन की जितनी व्यापकता चाहे समेट सकता है। यही बात है कि उपन्यास आधुनिक काल की एक जनप्रिय विधा के रूप में उभरा है। साहित्य की तीन विधाएँ दीर्घकाल से प्रचलित रही है कविता, नाटक और कथा। यद्यपि इन तीनों विधाओं में कुछ समानता के तत्त्व भी है तो असमानता भी साफ परिलक्षित होती है। कविता श्रव्य विधा है, इसमें संगीत छंद और लय की अनिवार्यता रहती है। इसी प्रकार नाटक दृश्य विधा है इसमें दृश्य विधा के अनुरूप मंचीय उपकरण और अभिनय की अनिवार्यता है। अतः हम कह सकते है कि काव्य और नाटक दोनों मिश्र माध्यम हैं। वे अन्य कलाओं का सहारा चाहते हैं और लेते हैं। काव्य संगीत का, तो नाटक अभिनय का सहारा लेता है। इस दृष्टि से कथा विशुद्ध साहित्यिक माध्यम है, वह केवल शब्द पर ही आधारित होती है।

आधुनिक काल में कथासाहित्य के एक विशिष्ट प्रकार 'उपन्यास' ने एक नयी विधा के रूप में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है और उपन्यास ने इतनी लोकप्रियता अर्जित कर ली है कि काव्य और नाटक दोनों ही उससे पिछड़ गए हैं।

इस नवीन अभ्युदय का वृत्तांत बड़ा ही रोचक है और यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जीवन की परिस्थतियों में परिवर्तन के साथ ही साहित्यगत अभिव्यक्ति की विधाओं में भी परिवर्तन होता चलता है। उपन्यास अपने आधुनिक रूप में भी स्थिर और अचल नहीं है। उपन्यास के प्रारम्भिक और

प्रौढ़ रूपों में इतना अंतर है कि उपन्यास को प्राचीन कथा परम्परा का विकास मान लेने में भी कोई बड़ी समस्या नहीं जान पड़ती है। संस्कृत का 'हितोपदेश' ही पश्चिम की 'ईसप्स फेबिल्स' अथवा 'अलिफलैला' का जनक लगता है। अलिफलैला का ही प्रतिफल इटली के लेखक बुकासियो का 'डेकामेरान' है। जिसमें विद्वानों को उपन्यास के आरम्भिक संकेत मिलते हैं। फ्रांसीसी लेखक राबले की व्यंग्य विनोद की कृति 'गर्गान्तुआ एंड पन्तागुअल' उसी का अगला चरण है और फिर उसी का विकास स्पेनिश लेखक सर्वान्तिस के 'डॉन क्विक्जोट' में देखा जा सकता है। यदि हम यह स्मरण करें कि अनेक विद्वान् राबले और सर्वान्तिस को आधुनिक उपन्यास के जन्मदाताओं में अन्यतम मानते हैं तो फिर भारतीय 'कथासरित्सागर' से आधुनिक उपन्यास की वंशगति उतनी निरर्थक और असंगत नहीं लगती है।

आधुनिक उपन्यास के रहस्य में प्रवेश करने के लिए उस बिंदु पर पहुंचना उपयोगी है जहाँ आकर उपन्यास में अन्तरंग और गुणात्मक परिवर्तन आया है। वह बिंदु है –यूरोपीय पुनर्जागरण। यूरोपीय पुनर्जागरण एक सांस्कृतिक आन्दोलन था जिसने पुरे विश्व की कलाओं को प्रभावित किया। यूरोपीय पुनर्जागरण ही आधुनिक युग का जन्मकाल माना जाता है और यह युग उपन्यास का भी जन्मकाल था। पुनर्जागरण की साहित्यिक संतान होने के कारण उपन्यास ने उसकी अनेक प्रवृत्तियों को अपने में समाहित किया। कथावस्तु का अलौकिक से लौकिक रूप में ही पाठक के सामने आना इसका प्रबल प्रमाण है। मध्ययुगीन रम्याख्यानों के स्थान पर आधुनिक यथार्थवाद और विशिष्टजनों के स्थान पर साधारणजनों का चित्रण भी उपन्यास को पुनर्जागरण की देन है जो उपन्यास की आधुनिकता का आधार है। उपन्यास का मानव जीवन के साथ यथार्थपूर्ण संबंध है। जीवन का यथार्थ जटिल होने के साथ ही उपन्यास का यथार्थवाद भी जटिलतर हो गया है। वैभव सिंह ने अपनी पुस्तक 'भारतीय उपन्यास और आधुनिकता' में उपन्यास को वर्तमान की यथार्थ अभिव्यक्ति से जोड़ उसको महाकाव्य से अलगाते हुए साधारण

और विश्वसनीय भाव को उसकी शक्ति बताया है- "उपन्यास का नायक और आम मनुष्य अधूरा हो कर भी हमें अपना सा लगता है और दैवीय पूर्णता से भरा महाकाव्यात्मक मनुष्य हमें प्रिय होते हुए भी दूर का लगता है - - - ज्यादा कहना यह ठीक होगा कि महाकाव्य का या पौराणिक मनुष्य केवल असाधारण हो सकता था जबकि उपन्यास का व्यक्ति अपने साधारणपन में ही अधिक यथार्थवादी व आकर्षक लगता है।"[1]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास की आधुनिकता को उसकी वैयक्तिकता से जोड़ा है – "उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नये गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है - - - यह आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है और कथानक को इस प्रकार सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नये उपन्यास की आत्मा है।"[2]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों पर भारतीय कथा-आख्यायिका के प्रभाव की बात करते हुए उपन्यास की भारतीय अवधारणा को रामदरश मिश्र इस प्रकार देखते हैं, "भारतवर्ष में कथा साहित्य की धारा अनादिकाल से बहती आ रही है। वेदों, ब्राह्मणों, रामायण, महाभारत, पुराणों, जैन गाथाओं, जातक कथाओं, हितोपदेश, पंचतंत्र, बैताल पच्चीसी, सिंघासन बत्तीसी आदि में कथा का अनंत भण्डार भरा हुआ है - - - सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि को शुद्ध कथा साहित्य कह सकते हैं - - - प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों पर इस प्राचीन परम्परा का प्रभाव खूब लक्षित होता है। कहा जा सकता है कि प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों ने उपन्यास का स्वरूप पश्चिम से

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 13
[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृष्ठ 413-414

तो अवश्य लिया लेकिन उसमें परम्परागत कथा-साहित्य की प्रतिष्ठा अधिक थी।"[1]

उपन्यास का उदय पश्चिम में हुआ जो यूरोपीय पुनर्जागरण का साहित्यिक परिणाम के रूप में स्वीकार किया जाता है। उपन्यास नए समाज के नए मूल्यों का वाहक बन कर आया। जीवन की व्यापकता को अपने कलेवर में समेटने की शक्ति अन्य विधाओं कि अपेक्षा उपन्यास में अधिक रहती है। उपन्यास में मानव चरित्र की यथार्थ अभिव्यक्ति अधिक गंभीरता के साथ बिना किसी लाग-लपेट के समाज के सामने लायी जा सकती है। उपन्यास आधुनिक विधा है परन्तु मानवीय विकास की हर प्रवृत्ति को साधने की शक्ति उपन्यास के रचना विधान में समाहित हो सकती है।

हिन्दी उपन्यास के आरम्भ के सम्बन्ध में दो मत हैं। प्रथम मत के अनुसार यह पाश्चात्य साहित्य की एक समर्थ विधा है जो बंगला के माध्यम से हिन्दी में आई। दूसरा मत इसे पूर्णत: भारतीय विधा मानता है और इसका उद्भव भारतीय कथा-आख्यायिका के विकास के रूप में स्वीकार करता है। उपन्यास का जो रूप आज हमारे सामने है उसको आधार बनाकर उपन्यास की परम्परा को समझना थोड़ा कठिन है परन्तु उपन्यास अपनी आरम्भिक अवस्था में पश्चिम में जिस रूप में सामने आया वह रूप भारतीय परम्परा से एकदम अलग भी नहीं था। विषय-वस्तु के स्तर पर उपन्यास का स्वरूप भारतीय ही बना रह सका इसके पीछे कथा की भारतीय परम्परा की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।

उपन्यास अपने संगठन में पश्चिमी ढांचा लिए हुए भी भारतीय समाज में चल पड़ा, इसके पीछे उपन्यास के प्रति भारतीय कथा का अनुभव भी अपनी भूमिका निभा रहा था। उपन्यास का बीज पश्चिम से ही आया यह कहना उपन्यास के पीछे भारतीय कथा की भूमिका को नकारना है। उपन्यास की

[1] रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा, पृष्ठ 16

आज भी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन पाई है फिर उपन्यास को सर्वमान्य रूप में पश्चिम की देन कह देना तो कथा-साहित्य की भारतीय समझ को ख़ारिज करने की चाल ही कहा जायेगा।

उपन्यास का स्वरूप पश्चिम में अधिक स्पष्ट और परिवर्तनगामी बन कर जनमानस के सामने आया। उपन्यास की व्यापक स्तर पर स्वीकृति भी पहले पहल पश्चिमी समाज में अधिक रही इसमें दो राय नहीं है परन्तु भारतीय समाज के लिए उपन्यास की कथा संकल्पना एकदम उधार की रही है यह कहना भी न्यायसंगत नहीं है। किसी विधा का वर्तमान स्वरूप ही उसके इतिहास का निर्धारक नहीं होता। उसका इतिहास किन चरणों से गुजरा है इस पर भी विचार होना चाहिए। उपन्यास जैसी परिवर्तनगामी विधा के सम्बन्ध में तो इस बिंदु पर अवश्य ध्यान देना होगा, तभी उपन्यास की भारतीय परम्परा को समझा जा सकता है।

पश्चिम में उपन्यास के उद्भव की पृष्ठभूमि को भारतीय कथा आख्यायिका की परम्परा के साथ जोड़ते हुए ज्ञानचंद जैन मानते हैं कि "हिन्दी ही नहीं समस्त भारतीय भाषाओं में उपन्यास का विकास उन्हीं परिस्थियों में हुआ जिन परिस्थियों में योरोप में उपन्यास का विकास हुआ था। योरोप में भी उपन्यास की यात्रा नवजागरण काल में आरम्भ हुई। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में इटली में बोकैशियो की 'डिकैमरान' नामक कथा-पुस्तक प्रकाशित हुई। उसने अपनी रचना को नावेल स्टोरियो अर्थात नवल कथा कहा। इसी से अंग्रेजी में इस नयी साहित्यिक विधा के लिए नावेल शब्द प्रचलित हुआ। यह बात उल्लेखनीय है कि बोकैशियो को अपनी नवल कथा के लिए जिन स्रोतों से प्रेरणा मिली उनमें भारत भी था। भारत कथाओं का आदि देश कहा जाता है। पंचतंत्र और कथासरित्सागर की कथाओं का प्रचार-प्रसार सारे संसार में हुआ। बोकैशियो ने अपनी नवल कथा में दस दिन तक पुरुष तथा स्त्री पात्रों द्वारा सुनाई जाने वाली सौ कथाओं को एक सूत्र में पिरोने के लिए जिस युक्ति का

सहारा लिया उससे सहज रूप से सोमदेव के कथासरित्सागर तथा दंडी के दशकुमारचरित का स्मरण हो जाता है।"[1]

हिन्दी उपन्यास भारतीय नवजागरण की उपज बनकर जिस सुधारवादी मानसिकता का प्रचार कर रहा था उस संदर्भ में हिन्दी उपन्यास के आरम्भ पर विचार करते हुए ज्ञानचंद जैन लिखते हैं "हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक बिंदु सन् 1870 से माना जा सकता है। इस वर्ष मेरठ के पंडित गौरीदत्त ने, जिन्होंने नागरी प्रचार को अपना जीवन-व्रत बना लिया था 'देवरानी जेठानी की कहानी' शीर्षक से अपनी लिखी हुई सर्वथा नए ढंग की नवल कथा प्रकाशित की, जो उस समय के समाज का दर्पण कही जा सकती है। इस प्रकार की दो और नवल कथाएँ उसी दशक में लिखी गयी। इनमें से एक की रचना मेरठ के एक मदरसे के अध्यापक द्वय मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने सन् 1872 में की थी जिसका उद्देश्य था आर्य ललनाओं को सामाजिक कुचालों और पाखंडों से विमुख करके सुचाल की शिक्षा देना। उन्होंने उसका शीर्षक रखा था –'वामाशिक्षक' अर्थात् 'दो भाई और चार बहनों की कहानी'। दूसरी रचना सनातन धर्म के प्रचारक श्रद्धाराम फिल्लौरी ने लिखी जिसका शीर्षक था –'भाग्यवती' जो सन् 1877 में लिखी गयी। "[2]

उपन्यास की भारतीय अवधारणा को समझने के लिए भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा मासिक और साप्ताहिक पत्रों में धारावाहिक रूप में उपन्यासों को छापने के प्रयासों को भी इस विधा के विकास की भारतीय परम्परा के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। भारतेन्दु ने अपनी मैगजीन के 15नवम्बर 1873 के दूसरे अंक से ही बाबू गदाधर सिंह द्वारा किया गया कादम्बरी का अनुवाद छापना शुरू किया। शायद इसे छापकर वह अपने पाठकों को बताना चाहते थे कि पश्चिमी देशों में जो नावेल लिखे जा रहे है,वे हमारे लिए नवीन नहीं है।

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 7
[2] वही, पृष्ठ 8-9

हमारे यहाँ एक हजार वर्ष पहले 'कादम्बरी' की रचना हुयी थी जिसे विश्व का पहला उपन्यास कहा जा सकता है। "आरम्भिक उपन्यास लेखकों ने उपन्यास रचना के लिए भले ही अंग्रेजी अथवा बंगला से प्रेरणा ली हो किन्तु उनकी जमीन अपनी थी जिसके आधार पर उन्होंने उपन्यास शिल्प के अनेक प्रयोग किये और उसका विकास किया। उनके शिल्प पर हिन्दी को विरासत में मिली सुदीर्घकालीन साहित्यिक कथा परम्पराओं का प्रभाव कहीं अधिक था।"[1] इस प्रकार प्रेमचन्द के हिन्दी उपन्यासों को हम आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की परम्परा से जुड़ा हुआ पाते हैं। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती', 'परीक्षागुरु', 'नि:सहाय हिन्दू', 'धूर्त रसिकलाल' आदि उपन्यासों की सामाजिक शिक्षा तथा यथार्थवादी दृष्टि की निरंतरता आगे चलकर प्रेमचंद के उपन्यासों में अधिक मुखरित होती है।

हिन्दी उपन्यास को कथा के श्रव्य से पाठ्य हो जाने की प्रक्रिया मानते हुए गोपाल राय लिखते हैं "उपन्यास के जन्म के पूर्व 'कथा' श्रव्य ही होती थी। कथा और उपन्यास का एक अंतर प्रथम का श्रव्य और दूसरे का पाठ्य होना भी है। अत: उपन्यास के अंकुरण और पल्लवन के लिए जरूरी बुनियादी संरचना के रूप में गद्य का विकास और मुद्रण यंत्र का आविष्कार आवश्यक था। योरोप में तेरहवीं शताब्दी में मुद्रण यन्त्र का आविष्कार हुआ जिससे गद्य के विकास में अभूतपूर्व तेजी आयी। सामंतवाद के स्थान पर पूँजीवाद के उदय का समय भी लगभग यही है। पूँजीवाद के साथ मध्यवर्ग का भी विकास हुआ, जिसने अपनी विशालता और बौद्धिक जागरूकता के कारण विशाल पाठक वर्ग का भी रूप ले लिया। जिसने वहां उपन्यास के उदय के लिए बुनियादी संरचना के निर्माण में योग दिया। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही योरोप में उपन्यास अस्तित्त्व में आ गया। "[2]

---

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 12

[2] वही, पृष्ठ 13

हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग करने वाले भारतेन्दु हरिश्चंद्र थे। 'नॉवेल' के पर्याय रूप में हिन्दी में उपन्यास शब्द की स्वीकृति सरल रूप में नहीं हुई है। यही कारण है की उपन्यास की भारतीयता उसे नितांत पाश्चात्य साहित्य की नक़ल की थोपी हुई आवधारणा से बचाती है। हिन्दी उपन्यास के विकास पर नज़र डाले तो कई आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं। पहला तो यह है कि हिन्दी उपन्यास के उद्भव और विकास में पूँजीवाद और मध्यवर्ग की भूमिका बहुत नगण्य है। योरोपीय उपन्यास के विकास में पूँजीवादी अर्थतंत्र और मध्यवर्ग का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पूँजीवाद और मध्यवर्ग वाली अवधारणा हिन्दी उपन्यास पर भी चस्पा कर दी जाती है। ऐसा करना भारतीय पृष्ठभूमि को समझे बिना ही एक अवधारणा थोप दिया जाना है।

हिन्दी उपन्यास का उद्भव सन् 1870 से 1890 के बीच माना जाता है। इस अवधि में हिन्दी क्षेत्र में न तो पूँजीवादी अर्थतंत्र का कोई वर्चस्व था और न ही कोई मजबूत मध्यवर्ग पैदा हुआ था। पूँजीवाद के नाम पर विदेशी पूँजीवाद था जो भारत का शोषण कर रहा था। मध्यवर्ग भी हिन्दी का न होकर अंग्रेजी या उर्दू पसंद था जिसका हिन्दी से कोई विशेष लगाव नहीं था। एक बात यह भी है कि 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक' और 'भाग्यवती' जैसे उपन्यास भी अंग्रेजी के जानकारों के द्वारा नहीं अपितु संस्कृत से हिन्दी की ओर बढ़ते कदम वालों की रचनाएँ है। इस प्रकार योरोपीय तर्ज का मध्यवर्ग जो हिन्दी उपन्यास के विकास का कारण बनता, हिन्दी क्षेत्र से लगभग अनुपस्थित था। गोपाल राय ने हिन्दी उपन्यास के विकास को राष्ट्रीय चेतना के साथ जोड़ कर देखा है –"हिन्दी उपन्यास मध्यवर्ग की माँग के फलस्वरूप नहीं,वरन एक प्रकार की प्रच्छन्न राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया।"[1]

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 65

बंगाल से चली नवजागरण की चेतना सातवें दशक में हिन्दी क्षेत्र को भी प्रभावित करने लगी। यहीं से हिन्दी उपन्यास का राष्ट्रीय और सुधारवादी चरित्र विकसित होने लगा, जो अनवरत रूप से जारी रहा।

(2) उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा

उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा भी पुनर्जागरण की संस्कृति और मानसिकता की उपज है। जब काव्य अपनी भावात्मक सीमा और नाटक अपने मंचीय रूप के कारण पाठक की जिज्ञासा को शांत करने में उतने प्रभावी नहीं हो रहे थे। पुनर्जागरण की मानवी संस्कृति अब भावुकता की जगह तर्कशीलता के सहारे अपने निर्णयों से संचालित होने लगी थी। दंतकथाओं के स्थान पर यथार्थ की घटनाएँ अब मानव को अधिक प्रेरणादायक और विश्ववसनीय लगने लगी। अलौकिक संसार के कल्पना जाल की जगह लौकिक संसार का यथार्थ अब अधिक रमणीय और मनभावन लगने लगा था। अतिप्राकृत घटनाओं का मायाजाल अब मनुष्य के लिए एक मिथ्या और अप्रासंगिक बीती हुयी स्मृति मात्र बन कर रह गया था जिसे वह भूलना चाहता है।

उपन्यास के उत्स की पाश्चात्य अवधारणा में भी एक तरफ उपन्यास को परम्परा विकसित साहित्य का नवीन प्रयोग मानते हुए रम्याख्यान की प्राचीन परम्परा को ही उपन्यास के रूप में देखा जाता है। पाश्चात्य समीक्षक सेंट्सबरी इसी अवधारणा के समर्थक हैं –"उपन्यास के प्राक् रूप का इतिहास प्राचीन है और यह इतिहास वही जो रम्याख्यान (रोमांस) का है।"[1] दूसरी ओर बहुत से विद्वान उसे नितांत नवीन विधा मानते हैं। उनके कथनानुसार 'उपन्यास' का प्रारम्भ विश्वसाहित्य में यूरोपीय पुनर्जागरण के पश्चात् हुआ।

इटली से आरम्भ हो कर जागरण की यह लहर एक के बाद एक देश में प्रसार पाती गयी। इस साहित्य रूप के विकास के लिए औद्योगिक क्रांति और उससे

[1]डॉ० नगेन्द्र (सम्पा०), मानविकी परिभाषा कोष : साहित्य-खंड, पृष्ठ 180

संभूत जटिलता ने अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान की। वस्तुत: सत्य इन दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय में ही मिल सकता है।

कथा कहने -सुनने की प्रवृत्ति आदिम है और युग-युगों से चली आ रही है, वहीं यह भी स्पष्ट है कि कथा का जो रूप उपन्यास में मिलता है वह नितांत आधुनिक और नवीन है और उसका आरम्भ बिन्दु यूरोपीय पुनर्जागरण है। रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास की विकास यात्रा के संबंध में कथा की प्राचीनता और कला की नवीनता पर विचार करते हुए लिखा "उपन्यास की क्रम यात्रा को जानकर भी हमें उसके रहस्य का कोई भेद नहीं मिलता क्योंकि किसी न किसी बिंदु पर आकर उसमें एक अंतरंग और गुणात्मक परिवर्तन आया और यह परिवर्तन इतना मौलिक था कि आज इस साहित्य विधा का अध्ययन करने के लिए उसके पूर्व रूप का अध्ययन कोई अर्थ नहीं रखता।"[1]

पश्चिम में उपन्यास के आरंभिक संकेत इटली के लेखक बुकासियो की रचना 'डिकैमरान' में मिलता है जिसमें पहली बार कथा का आधार साधारण नर-नारियों को बनाया गया था। यह साहित्यिक घटना कोई नयी बात भी नहीं थी क्योंकि पुनर्जागरण का प्रारम्भ भी इटली से ही हुआ था और धर्मान्धता के अंधकार को भेद को कर ज्ञान के आलोक की किरणें सबसे पहले वहीं प्रस्फुटित हुई थी। साहित्य समाज की दशा और दिशा को अभिव्यक्ति देता है ऐसे में उपन्यास ने अपने समाज के बदलाव के यथार्थ को अधिक प्रखरता के साथ पाठक के सामने रखा। उपन्यास की मुख्य विशेषता साधारण जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति शायद तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थी जो आगे चल कर उसकी सर्वकालीन विशेषता बनी। 'डिकैमरान' में ही रोचकता का तत्त्व उपन्यास की नयी विशेषता के रूप में सामने आता है। 'डिकैमरान' में आधुनिक उपन्यास का कलेवर अपनी पूर्णता में तो नहीं पर आरंभिक संकेत के रूप में आया और यह आना ही उपन्यास के उत्स का आधार बना।

---

[1] डॉ० नगेन्द्र (सम्पादक), मानविकी परिभाषा कोष : साहित्य-खंड – पृष्ठ 180

उपन्यास के संबंध में पाश्चात्य दृष्टिकोण भी परम्परा विकसित अवधारणा पर आधारित है। उपन्यास पुनर्जागरण काल की उपज के रूप में स्वीकार गया, परन्तु उपन्यास के रूप में प्रथम रचना की स्वीकृति हिन्दी उपन्यास की तरह वहाँ भी विवादित रही है। यही कारण है कि इटली के बोकैशियो से चलता हुआ यह सफ़रनामा फ्रांस के 'रावले' (गार्गंतुआ) और स्पेन के 'सर्वेंतिस'(डॉनक्विकजोट) से होता हुआ धीरे धीरे आधुनिक उपन्यास के रूप में साकार हुआ। इस विकास क्रम में कुछ बातें ऐसी थीं जिन्होंने इस क्रमिक विकास को बनाए रखा साथ ही अन्य विधाओं से उपन्यास को अलगाने या उसकी स्वतंत्र पहचान बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया। उपन्यास सम्बन्धी पाश्चात्य अवधारणा के विकास क्रम को भारतभूषण अग्रवाल ने अपने शोधप्रबंध में इन शब्दों में स्पष्ट किया "'डिकैमरान'में लेखक ने रोचक किन्तु संभव-असम्भव कहानियों के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का और विशेषत: धर्म-जन पादरियों की चारित्रिक त्रुटियों का उपहास किया था। इटली से चलकर जब ज्ञान का आलोक फ्रांस पहुँचा तो वहाँ रावले ने भी अपनी रचना में तत्कालीन समाज की ह्रासोंन्मुखी प्रवृत्तियों पर व्यंग्य प्रहार किया। शीघ्र ही स्पेन में भी एक विशेष प्रकार के आख्यान प्रकट हुए जो खलाख्यान कहलाते हैं। इस नामकरण का कारण यही है कि उनमें कुछ ऐसे धूर्त और खल पात्रों की कथा कही जाती थी जो समाज की आँखों में धूल झोंक कर अपनी सफलता पर गर्व करते थे। नैतिकता की दृष्टि से यह रचनाएँ गर्हित होती थी और उनके कारण यथार्थवाद को भी काफी खरी-खोटी सुननी पड़ी थी। परन्तु उन्होंने उपन्यास के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। एक तो उन्होंने रम्याख्यानों के कपोलकल्पित अथवा पुराण कथित सामन्ती वीरों और राजकुमारियों के अद्‌भुत अयथार्थ पात्रों के स्थान पर ऐसे पात्रों का समावेश किया जो समाज के दैनिक जीवन में पहचाने जा सकते थे।

दूसरे उन्होंने प्रकृति और परिवेश के वर्णनों में यथार्थपरक दृष्टि को जन्म दिया और तीसरे उन्होंने भाषा को उसकी आलंकारिकता के पाश से मुक्त किया।"[1]

उपन्यास पश्चिम में भी आधुनिक विधा है और आधुनिक उपन्यास का निर्भ्रांत रूप इंग्लैण्ड के लेखक डेनियल डिफो की रचना 'रोबिन्सनक्रूसो' में ही अधिक स्पष्ट आकार में सामने आता है। "डिफो को साधारणत: अंग्रेजी उपन्यास का जनक कहा जाता है, पर वह कदाचित् विश्व उपन्यास का भी जन्मदाता था क्योंकि उसकी रचना में पहली बार व्यक्ति –नायक अपनी पूरी विशिष्टता में अंकित हुआ है। वस्तुत: जिसे हम आधुनिक उपन्यास कहते हैं उसकी पहली सम्यक् झलक डिफो, रिचर्डसन, फील्डिंग, स्मोलेट, स्टर्न प्रभृति अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज लेखकों में ही मिलती है।"[2]

आधुनिक उपन्यास की मूल विशेषता यथार्थ -अभिव्यक्ति और घटना-विश्वसनीयता की दृष्टि से 'रोबिन्सनक्रूसो' आधुनिक उपन्यास के सिद्धांतों का आधार निर्माणकर्ता है। डिफो का नायक 'रोबिन्सनक्रूसो' अपनी समकालीनता में पूँजीवादी वर्ग की साहसिक और जुझारू प्रवृत्ति के साथ धार्मिक मनुष्य से अलग आर्थिक मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है, जो तत्कालीन समाज का यथार्थ है। पूँजीवादी व्यवस्था ने व्यक्ति को समाज से किस प्रकार काटा दिया तथा वह अकेला अपने संघर्ष द्वारा कैसे विजेता बनता है, इस यथार्थ की दृष्टि से 'रोबिन्सनक्रूसो' में तत्कालीन बदलावों और पूँजीवादी समाज के भविष्य का संकेत भी मिलता है। आज पूँजीवाद की शक्ति और सीमाओं पर बहस हो सकती है या विचारधारा के स्तर पर समाज का वर्ग विभाजन हो सकता है, पर जिस समय अठारहवीं शताब्दी में यह उपन्यास लिखा गया उस दौर में पूँजीवाद मध्यकालीन जड़ता के स्थान पर आधुनिक मनुष्य के संघर्ष का परिचायक था। डिफो ने उपन्यास में सामाजिक बदलावों में यथार्थ के सहारे

[1] भारतभूषण अग्रवाल, हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ 26
[2] वही

भविष्य का काल्पनिक सच भी पाठक के सामने रखा, जो आज इस व्यवस्था के सबसे बड़े दोष के रूप में बुद्धिजीवियों के बीच चर्चा का विषय है।

उपन्यास का काम यथार्थ को दिखाना ही नहीं है यह तो अन्य विधाओं में भी संभव है पर उपन्यास जो तर्क आधारित विजन (vision) पाठक के सामने रखता है वह उसकी अपनी पहचान भी है और ताकत भी। समुद्री तूफान के थपेड़ों से निर्जन द्वीप में परित्यक्त क्रूसो उसी आर्थिक मानव का प्रतीक है जो अपनी व्यवहार-बुद्धि और प्रत्युत्पन्नमति से विषम परिवेश से संघर्ष करता है और विजयी होता है। यहाँ पर उपन्यास उस परिवर्तन का संकेत करता है जहाँ भाववादी अविचल सार्वभौम तत्त्व का स्थान निश्चित रूप से यथार्थवादी गतिशील तत्त्व ने लेना शुरू कर दिया। इस प्रकार उपन्यास में व्यक्त चरित्र के साथ उसका परिवेश भी विशिष्ट और यथार्थ हो जाता है तथा देशकाल प्रामाणिक।

उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा में उपन्यास एक नवीन, जटिल, वैयक्तिक और गतिशील विधा के रूप में सामने आता है। मूल्यों की नवीनता, अभिव्यक्ति की यथार्थता और जटिलता तथा विषयवस्तु की वैयक्तिकता और गतिशीलता आधुनिक उपन्यास की विशेषता बनते हैं। जब भी जीवन का यथार्थ बदलता है उपन्यास का रूपबंध भी बदल जाता है। जीवन जटिल होता है तो उपन्यास का कलेवर भी जटिल से जटिलतर हो जाता है। यही कारण है कि जीवन का यथार्थ जटिल हुआ उपन्यास का यथार्थवाद भी जटिल बन गया।

आज का उपन्यास खंडित यथार्थवाद का उपन्यास कहा जाता है क्योंकि वर्तमान जीवन ने व्यक्तित्त्व को खण्डित कर दिया है, ऐसे में उपन्यास में अभिव्यक्त जीवन भी अपने कलात्मक रूप में किसी एक आदर्श को लेकर नहीं चल सकता। रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास की इस विशेषता की ओर इशारा किया है "उपन्यास केवल मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य

है। ऐसी पहली कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है।"[1]

उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा में उसके तत्त्वों पर विचार तो किया गया है परन्तु उसकी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक तय नहीं हो पाई है और शायद हो भी न पाये। ऐसा इसलिए कि उपन्यास लेखन के कोई निश्चित आयाम नहीं है, वह अपने गठन में इतना जटिल है कि कभी अपनी नितान्त वैयक्तिकता में चौंकाता है तो कभी अपनी गतिशीलता के द्वारा परम्परा का विकास होते हुए भी परम्परा को नकारता हुआ आगे बढ़ता है। उपन्यास की इस प्रवृत्ति पर विचार करते हुए भारतभूषण अग्रवाल लिखते है, "उपन्यास साहित्य में उपलब्ध इस अंतहीन वैचित्र्य का कारण यही है कि उपन्यास नवीन विधा है और वैयक्तिक विधा है। वह नवीन है अत: परम्परा से न तो हमें उसकी कोई परिभाषा मिलती है, न व्याख्या। उपन्यास के जन्मदाता लेखकों को यह तो हल्का-सा आभास था कि वे रूढ़ी से प्रथक एक नवीन पथ पर अग्रसर हो रहे हैं पर वे उसको नाम तक न दे सके थे। उसकी परिभाषा का परिचय क्या देते। उपन्यास वैयक्तिक विधा है अत: प्रत्येक उपन्यासकार ने अपनी दृष्टि, अपनी रुचि एवं अपने आग्रह के अनुकूल अपनी-अपनी रचना को रूप दिया है।"[2]

उपन्यास के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन उसकी रूपबंध की जटिलता का बोध कराता है जहाँ उसके लिए कोई निश्चित सिद्धांत नहीं गढ़े जा सकते। फिर भी पाश्चात्य उपन्यास समीक्षकों ने उसके तत्त्वों पर विचार कर उपन्यास के आलोचनात्मक मानदण्ड निर्धारित किये हैं। यद्यपि उपन्यास के जटिल रूपबंध के लिए इन तत्त्वों की सार्थकता कोई अधिक प्रभावी नहीं रही। गद्य विधा के लिए निर्धारित छह तत्त्व थोड़े बहुत उलटफेर के साथ उपन्यास के

[1] रैल्फ फॉक्स उपन्यास और लोक जीवन, पृष्ठ 10

[2] भारतभूषण अग्रवाल, हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ 32

लिए भी स्वीकार कर लिए गये। ये छह तत्त्व हैं – (1)कथानक (2) चरित्र (3) संवाद (4) देशकाल (5) शैली (6) जीवन-दृष्टि । इन तत्त्वों का बिन्दुवार विवेचन करने की न तो मेरी इच्छा है और न ही प्रस्तुत शोधप्रबंध की आवश्यकता। तात्त्विक रूपबंध का उपन्यास के लिए महत्त्व है परन्तु अपनी समग्रता और सर्वांगीणता में वह अपने अवयवों से बड़ी और स्वतंत्र कृति होती है, उनका निर्जीव जोड़ नहीं। उसका समग्र रूप जिन प्रयोजनों पर टिका होता है वे ही उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। उपन्यास के प्रयोजन में ही उसके तत्त्वों की सार्थकता है, तत्त्वों के कारण प्रयोजन की सार्थकता नहीं। यह तत्त्व उपन्यास को अन्य गद्य विधाओं से अलग स्वतंत्र पहचान स्थापित करने में भी उतने प्रभावी नहीं है। इनसे उपन्यास रचना के सिद्धांत तो गढ़े जा सकते है पर उपन्यास की स्वतंत्र जीवन दृष्टि की पहचान विकसित नहीं हो पाती है। क्या इन तत्त्वों से उपन्यास का मूल्यांकन संभव है? इनमें से अनेक तत्त्व प्रबन्ध काव्य अथवा नाटक में भी प्रयुक्त होते हैं, तो क्या काव्य अथवा नाटक में और उपन्यास में उनके समावेश में कोई मौलिक अंतर नहीं है? इस प्रकार स्पष्ट है कि आख्यान की कथानक, रेखाचित्र की चरित्र, नाटक की संवाद, इतिवृत्त की देशकाल, निबन्ध की मौलिक शैली। तो क्या इन तत्त्वों का समुच्चय होने के कारण उपन्यास इन सभी विधाओं का समुच्चय है? क्या उसकी स्वतंत्र सत्ता इस योगात्मक समुच्चय में ही है? जबकि ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त हम यह भी जानते हैं कि उपन्यासों में ये सभी तत्त्व उपस्थित नहीं होते, न किसी एक अनुपात में ही होते हैं। ऐसा होता तो घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान आदि उपन्यासों का जो वर्गीकरण प्रचलित है वह अनावश्यक हो जाता। उपन्यास के तत्त्वों पर विचार करते हुए भारतभूषण अग्रवाल ने लिखा है “यद्यपि प्रत्येक उपन्यास में यथार्थ के एक विशिष्ट पहलू को उजागर करने के लिए एक कथानक होता है – चाहे सुसंबद्ध, विश्रृंखल अथवा विरल और जीवन के कार्य व्यापार में रत पात्र होते हैं। चाहे अत्यंत कर्मठ और गतिशील अथवा मात्र दर्शक या आत्मलीन–तथापि उपन्यास में उनकी स्थिति

और महत्त्व एक सी नहीं होती। उनका निर्धारण उपन्यासकार अपने विशिष्ट जीवनानुभव और सृजन उद्देश्य के अनुरूप एक विशिष्ट प्रकार से करता है।"[1]

उपन्यास के तत्त्वों से इतर उपन्यास की सृजन प्रेरणा को जीवन के दर्शन से जोड़ते हुए रैल्फ फॉक्स मानते हैं- "उपन्यासकार व्यक्ति के भाग्य की कहानी उस समय तक नहीं लिख सकता जब तक कि वह सम्पूर्ण वास्तविकता के इस सुस्पष्ट-सुस्थिर दर्शन से भी लैस न हो। उसमें यह समझ होनी चाहिए कि उसके पात्रों के व्यक्तिगत द्वन्द्वों से किस प्रकार उसका अंतिम निष्कर्ष प्रकट होता है, साथ ही उसे यह भी समझना चाहिए कि जीवन की वे विविध परिस्थितियाँ कौन सी हैं जिनकी बदौलत उन व्यक्तियों में से प्रत्येक वैसा बना है जैसा की वह है।"[2]

[1] भारतभूषण अग्रवाल, हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव-पृष्ठ 45

[2] रैल्फ फॉक्स,उपन्यास और लोक जीवन,पृष्ठ 25

(3) उपन्यास की भारतीय अवधारणा

उपन्यास आधुनिक युग की साहित्यिक विधा है। उपन्यास का वर्तमान स्वरूप भी पश्चिम से आया है, परन्तु अर्थ यह नहीं है कि उपन्यास की भारतीय अवधारणा को अस्वीकार कर दिया जाये। पश्चिमी बौद्धिक वर्ग ने जिस प्रकार उपन्यास को पश्चिम की देन के रूप में दिखाया है और भारतीयों ने उसको आँख मूँद कर स्वीकार किया है, उसके पीछे पराधीन मानसिकता की भी भूमिका हो सकती है। भारतीय समाज के लिए उपन्यास का साहित्यिक स्वरूप उतना अनजाना नहीं था जितना इस सम्बन्ध में कहा गया है। अगर भारतीय कथा साहित्य की परम्परा का अध्ययन किया जाये तो उपन्यास को विकसित करने वाली कथा परम्परा पश्चिम से बहुत पहले यहाँ के जनमानस में विद्यमान थी। भारत में कथा-आख्यायिका के रूप में उपन्यास से कुछ मिलता-जुलता साहित्य अपनी मौखिक परम्परा में लोकजीवन में रचा बसा था। पश्चिम में उपन्यास को बौद्धिक वर्ग की उपज बताकर भारतीय बौद्धिकता को भी पश्चिमी मूल्यों की देन बताने का उपनिवेशी प्रयास होता रहा है।

उपन्यास का वर्तमान स्वरूप पश्चिमी ढांचे से ही भारतीय साहित्य में आया इसे स्वीकार करने में हमें परेशानी नहीं होनी चाहिए। परन्तु इसके साथ पश्चिम के उपन्यास विधान में भारतीय कथा परम्परा की भूमिका को नजर-अंदाज भी नहीं होने देना चाहिए। जिस रूप में उपन्यास पश्चिम में बौद्धिक वर्ग का नेतृत्व करता है भारतीय समाज में उसे उस रूप में कभी नहीं स्वीकार किया गया। पश्चिम में उपन्यास का कलेवर भी उतना समावेशी नहीं रहा जितना भारतीय समाज में कथा परम्परा का रहा है। पश्चिमी समाज में उपन्यास को एक नयी विधा के रूप में स्वीकार किया गया। जिसकी कोई परम्परा नहीं थी। सच तो यह है कि पश्चिम में उपन्यास का आरम्भिक स्वरूप

भारतीय कथा –परम्परा के अधिक नजदीक है। आगे चलकर भले ही उसका अपना ढाँचा बन गया हो। अगर हम यह मान रहे हैं कि भारतीय उपन्यास पश्चिम से आयातित विधा है तो हमें यह भी मानना चाहिए कि पश्चिम में उपन्यास के उद्भव में भी भारतीय कथा परम्परा की साहित्यिक भूमिका है।

उपन्यास पश्चिम से आयातित विधा होकर भी भारतीय जन-मानस के लिए उतना अनजाना कभी नहीं रहा और उपन्यास अपने सफलता के सोपान पर भी भारतीय कथा-आख्यायिका से उतना अलग भी नहीं हो पाया है। उपन्यास की परिभाषा में कहीं न कहीं कथा-आख्यायिका की परिभाषा भी मिल जाती है और उपन्यास के तत्त्वों में पहला प्रमुख तत्त्व भी कथावस्तु के रूप में उसे कथा-आख्यायिका के नजदीक ले जाता है। उपन्यास अंतर्कथा भी कथा आख्यायिका के बात से बात निकालने की शैली से अलग नहीं है, जिसकी समृद्ध परम्परा 'कथासरित्सागर', 'बैतालपचीसी', 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' के रूप में भारतीय जन-मानस में रची बसी है।

उपन्यास की पश्चिमी अवधारणा के साथ यदि उपन्यास को भारतीय परिपेक्ष्य में देखना-समझना है तो इसकी कथा-आख्यायिका की भारतीय अवधारणा को भी ध्यान में रखना होगा। उपन्यास की भारतीय अवधारणा से ही यह स्पष्ट हो पायेगा कि उपन्यास के पौधा का भारतीय जमीन पर फलने-फूलने के कारण उसके संकर बीज में निहित है, जिसमें पश्चिमी 'नावेल' के साथ भारतीय कथा-आख्यायिका के विलयन की भूमिका है। उपन्यास की भारतीय अवधारणा पर विचार करें तो कथा साहित्य की एक समृद्ध परम्परा इसके पीछे खड़ी नजर आती है। उपन्यास को जिस तरह पश्चिम की वैचारिक – साहित्यिक देन के रूप में स्वीकार किया गया है वह अपनी परम्परा से अनभिज्ञता और दूसरों की हाँ में हाँ मिलाने की प्रवृत्ति का ही सूचक है। कथा और रूप दोनों ही दृष्टि से उपन्यास की भारतीय परम्परा पर विचार करें तो इस सम्बन्ध में निष्कर्ष कुछ भिन्न और अधिक तार्किक निकल सकता है।

कथाओं के आदि देश में उपन्यास को पूर्णत: विदेशी विधा मान लेना अपने आप में अप्रासंगिक लगता है। उपन्यास विधा अपने संवेदना और शिल्प के कलेवर में कभी भारतीय साहित्य से अधिक अलग नजर नहीं आई। उपन्यास को अपने रूपबंध में जितना विदेशी है, कथा कलेवर में वह उतना भारतीय भी है। कथा –आख्यायिका से उपन्यास विधा का सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ यह नहीं होना चाहिये कि उपन्यास को अपने रूपबंध में कथा-आख्यायिका का ही विकास मान लिया जाय। बल्कि यह उस कुतर्क का खंडन है जिसके सहारे यह सिद्ध करने की कोशिश होती रही, कि भारतीय जन-मानस उपन्यास जैसी विधा से एकदम अनजान था। पश्चिम में उपन्यास के विकास की परम्परा आज तक भी स्पष्ट नहीं हो पाई है। पश्चिम में उपन्यास वैचारिक सोच के साथ आया जबकि भारतीय समाज में आज भी उपन्यास वैचारिकता से अधिक संवेदनात्मक कथा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। पश्चिम में कथा-कहानी की जीवंत परम्परा कभी नहीं रही है जबकि भारतीय समाज की जीवंतता का प्रमाण ही कथा-कहानियों की मौखिक परम्परा में है।

आज उपन्यास को जिस आधुनिक अवधारणा से जोड़कर देखा जा रहा है वह परम्परा का आधुनिक विकास है। वह परम्परा से भिन्न उपर की वस्तु नहीं है और यह परम्परा कथा-आख्यायिका से स्वाभाविक रूप से जुड़ी है। उपन्यास का ताना-बाना अपने तात्त्विक स्वरूप में भारतीय कथा-आख्यायिका से जुड़ा है इसका विवेचन आलोक गुप्त इस प्रकार करते है -"याने रूप के लिहाज से भी भारतीय आख्यान परम्परा में इतना कुछ है कि उसे पश्चिमी सांचों का मोहताज होने की जरूरत नहीं है। चाहे 'फंतासी' हो या मिथक, शुद्ध गल्प की काल्पनिकता हो या गैर आख्यानक और तथ्यपरक वार्ता हो, इतिहास के रूप में उपन्यास हो कि उपन्यास रूप में इतिहास हो, चलचित्रों की तात्कालिकता की युक्ति हो या नाट्य प्रस्तुति की समग्रता हो, लगभग सारी रूपात्मक युक्तियों और शैल्पिक प्रयोगों के सूत्र और बीज भारतीय आख्यान परम्परा में प्राप्त किये जा सकते हैं बशर्ते प्रयत्नपूर्वक भारतीय होने और दिखने के लिए

हम इतने बेताब न हों, बशर्ते भारतीयता को हम अपने जीवन्त इतिहास और परम्परा के बीच विकसित होता अनुभव करें, क्योंकि जो सचमुच भारतीय है वह प्रयत्नपूर्वक भारतीय न दिखकर भी भारतीय होता है उसकी भारतीयता को किसी बाहरी सनद की जरूरत नहीं होती और न भारतीयता की तलाश में हलकान होने की जरूरत होती है।"[1]

भारतीय उपन्यास को उपनिवेशवाद की एक सकारात्मक देन के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। यद्यपि उपन्यास का सही विकास पश्चिम में भी अधिक स्पष्ट काल क्रम के साथ निर्धारित नहीं है। उपन्यास विधा पश्चिम से भारतीय साहित्य में आई तथा भारतीयकरण की प्रक्रिया में इतनी भारतीय हो गयी कि अब वह पश्चिम की परम्परा के स्थान पर भारतीय परम्परा के नजदीक लगती है। उपन्यास के कथात्मक प्रयोग की सफलता इसमें है कि वह अपने रूपबंध में पश्चिम की देन होते हुए भी विषयवस्तु में भारतीय साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है। उपन्यास के विकास के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि भारतीय उपन्यास जितना पश्चिम के अनुकरण पर विकसित हुआ उतना ही उससे टकराहट भी लिए था। वैभव सिंह अपनी पुस्तक "भारतीय उपन्यास और आधुनिकता" में लिखते हैं "उपन्यास का ढांचा तो आयातित रहा, पर उसके मूल्य व कथारूप निरतंर अपने देसी रंग को अर्जित करने की प्रक्रिया में रहे। इस प्रकार पश्चिमी मूल्यों से जिस भारतीय समाज का परिचय कायदे से उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में होना आरम्भ हुआ, वे मूल्य भी भारतीय समाज में कई तरह की कांट-छांट, चयन तथा सीमित व सशर्त स्वीकार के रूप में ही ग्रहण किये जा रहे थे। उसमें स्त्री शिक्षा के लिए सहानुभूति थी, पर स्त्री की वैयक्तिकता को स्वीकारने के लिए वह तैयार नहीं था। स्त्री-पुरुष के बीच उन्मुक्त व स्वछन्द

[1] आलोक गुप्त, भारतीय उपन्यास की अवधारणा – पृष्ठ 43

प्रेम की दबी हुई लालसा तो थी, पर यूरोपीय उपन्यासों की तुलना में उन्हें उपन्यासों और कथाओं में व्यक्त करने में अनगिनत संकोच थे।"[1]

उपन्यास नवजागरण का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय उपन्यास अपनी आधुनिकता में संस्कृतियों की टकराहट का नेतृत्त्व करता है न कि पश्चिमी संस्कृति के अन्धानुकरण का। भारतीय उपन्यास ने टकराहट की शक्ति अनुकरण से नहीं अपितु अपनी परम्परा से पाई है। उपन्यास का वर्तमान कलेवर पश्चिमी ढांचे से विकसित हुआ है। इसको स्वीकार किया जा सकता है और इसे स्वीकार करना भी चाहिए परन्तु उपन्यास के कथा विन्यास की शैली से भारतीय समाज पूरी तरह अनजान था इसको अस्वीकारना भी जरूरी है। अपनी आरम्भिक अवस्था में उपन्यास पश्चिमी जगत में जिस रूप में सामने आया था वह भारतीय कथा –कहानियों से अधिक मेल खा रहा था। भारतीय कथा विधान में कहानी की एक मौखिक परम्परा रही है, जिसमें बात में से बात निकलती है और कथा निरन्तर आगे बढ़ती रहती है। उपन्यास की अवान्तर कथा का आधार भी यही भारतीय कथा शैली है जो भारतीय जन-मानस में सभ्यता की आदिम अवस्था से ही विद्यमान है। यद्यपि इसका कालक्रम तो निर्धारित नहीं किया जा सकता परन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि यह परम्परा विशुद्ध भारतीय है और पश्चिम में उपन्यास के उद्भव से हजारों वर्ष पहले की है। पश्चिमी बौद्धिक वर्ग के साथ यह संकट है कि दूसरों को श्रेय देने की परम्परा वहाँ विकसित नहीं हो पाई। दूसरी तरफ भारतीय समाज श्रेय देने में अपनी जीवन्तता समझता है। कथासरित्सागर, बैतालपचीसी की कथा शैली में उपन्यास विधा के विकास के संकेत हैं। पश्चिम में जिन रचनाओं को आरंभिक उपन्यास के रूप में स्वीकार किया गया वे भारतीय 'पंचतन्त्र', 'कथासरित्सागर' और 'बैतालपचीसी' से भिन्न न होकर इनका अनुकरण ही लगती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पश्चिमी

[1] वैभव सिंह ,भारतीय उपन्यास और आधुनिकता –भूमिका पृष्ठ 10

उपन्यास का आरम्भिक रूप अधिक भारतीय था और भारतीय उपन्यास का वर्तमान रूप अधिक पश्चिमी है। उपन्यास की अवधारणा को नितान्त पश्चिमी कहना परम्परा के उस सच को नकारना है जिसके बिना उपन्यास का उद्भव निर्धारित नहीं किया जा सकता। पश्चिम में इस अवधारणा को स्वीकार कर लिया गया कि उपन्यास पुनर्जागरण की देन है परन्तु पुनर्जागरण स्वयं संस्कृतियों की टकराहट की उपज था। इसमें भारतीय संस्कृति भी एक हेतु थी जो अरबों के माध्यम से यूरोप तक पहुंची थी। विचारणीय है कि घोषित रूप में भारतीय समाज के पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से पहले क्या भारतीय संस्कृति से पश्चिमी समाज का अघोषित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो गया था? जो उपन्यास विधा अठारहवीं शताब्दी में भारतीय साहित्य में पश्चिमी देन के रूप में स्वीकार की गई क्या उसका आरम्भिक रूप पश्चिम में भारतीय साहित्य की देन नहीं था? हम यह साबित करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं कि उपन्यास भारतीय साहित्य की देन है अपितु झूठ के उस परदे को हटाना चाहते हैं जिसकी ओट में यह कहा जाता रहा कि उपन्यास की कोई भारतीय अवधारणा नहीं थी। प्रेमचंद ने उपन्यास के पौधे के बीज को विदेशी कहा था जो भारतीय जमीन पर विकसित हुआ परन्तु आज इसमें यह जोड़ना जरूरी है कि यह बीज विदेशी नहीं था अपितु देशी का विदेशी संस्करण था।

उपन्यास की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणा पर गंभीरता से विचार करने पर उपन्यास का जो रूप हमारे सामने आता है, उसमें किसी एक की प्रधानता न होकर दोनों का साहित्यिक और सांस्कृतिक योगदान स्पष्ट हो जाता है। यदि उपन्यास का वर्तमान स्वरूप पाश्चात्य अवधारणा के अधिक निकट है तो उसका आदि स्वरूप भारतीय कथा-आख्यायिका के अधिक पास है। उपन्यास विधा पर विचार करते हुए इस मिली-जुली दृष्टि का अनुसरण किया जाये तो उपन्यास अपने वास्तविक रूप में पाठक के सामने आ सकेगा। उपन्यास भारतीय साहित्य के लिए उतना विदेशी कभी नहीं रहा है जितना विदेशी अनुकरण के रूप में इसे स्वीकार करवाया गया या आधुनिक बनने के चक्कर

हमारे बुद्धिजीवियों ने स्वीकार किया। अब तक उपन्यास के उदय की पश्चिमी अवधारणा भी स्पष्ट नहीं हो पायी है और जितनी स्पष्ट है वह भी भारतीय कथा-आख्यायिका से भिन्न नहीं है। भारतीय कथा-आख्यायिका से उपन्यास का विधान जितनी समानता रखता है उसे नकार कर हम उपन्यास की भारतीय समझ को भी नकार रहे होते हैं।

उपन्यास के सम्बन्ध में विवेचन करते समय धक्कामार शैली में विदेशी मानने के स्थान पर इसकी जड़ को अपनी जमीन में खोजने और विदेशी खाद से फलने फूलने की तथ्यात्मक सच्चाई पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। जो कहा गया है उसे वेद-वाक्य मानने के स्थान पर उपन्यास की जड़ –जमीन और विकास पर नए दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। उपन्यास की पाश्चात्य अवधारणा के साथ भारतीय अवधारणा की समझ विकसित करके ही हम उपन्यास के लोकतान्त्रिक स्वरूप के साथ न्याय तथा साहित्य की भारतीय परम्परा के प्रति बौद्धिक निष्ठा का परिचय दे सकते हैं। साहित्यिक अनुसंधान का उद्देश्य भी यही होता है कि पुराने निष्कर्षों का मूल्यांकन तथ्यों की सापेक्षता में हो तथा नए तथ्य भी पाठक के सामने लाये जायें। जहाँ विसंगति हो उसे सुधार कर पाठक को भटकाव और भ्रम से बचाया जाय। पुराने निष्कर्ष बदल कर हम पुराने बुद्धिजीवियों को नकार नहीं रहे हैं अपितु परम्परा का पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं जो समृद्ध साहित्यिक और जीवन्त बुद्धिजीविता का प्रमाण है।

साहित्य को साहित्य बनाये रखने के लिए साहित्यिक चितवृत्ति की समझ विकसित करना जरूरी हो जाता है। उपन्यास के सम्बन्ध में इसी भारतीय चितवृत्ति की आवश्यकता है जो लीक पीटने से नहीं उपन्यास के कलेवर की गहन समझ से ही विकसित होगी।

दूसरा अध्याय

उपन्यास विधा और हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास

1- विधागत अस्पष्टता

2- हिन्दी का पहला उपन्यास

3- आरम्भिक हिन्दी उपन्यास : विकास के सोपान

उपन्यास विधा और हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास

पहले अध्याय में उपन्यास के उद्भव की पृष्ठभूमि के साथ उपन्यास की पश्चिमी और भारतीय अवधारणा के सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास के आधार को समझने का प्रयास किया गया है। उपन्यास के उत्स में पश्चिमी पुनर्जागरण की साहित्यिक संस्कृति और उसकी गद्य में अभिव्यक्ति की वैचारिक सोच की विशेष भूमिका रही है। उपन्यास के लोकतान्त्रिक स्वरूप में बात कहने की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। वह भी शास्त्रीयता और कलात्मकता के बन्धनों से मुक्त होकर। नवीन मूल्यों के आलोक में विचारों की जटिलता को अभिव्यक्ति देने का सबसे उपयुक्त साहित्यिक माध्यम उपन्यास बना। पुनर्जागरण ने जिस साधारण मनुष्य के प्राकृतिक और लौकिक स्वरूप को सामने रखा उसकी अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास का विधान ही अधिक उपयुक्त हो सकता था। पुनर्जागरण ने तर्क आधारित मान्यताएं सामने रखी। जहाँ किसी बात के स्वीकार और अस्वीकार के पीछे विचारों की तार्किकता की बड़ी भूमिका थी।

गद्य में विचारों की सटीक अभिव्यक्ति हो सकती है। इस दृष्टि से उपन्यास नयी विधा के रूप में पुनर्जागरण की साहित्यिक देन है और उसकी संस्कृति का प्रसारक भी। पश्चिम में उपन्यास के उदय की पृष्ठभूमि को गोपाल राय मुद्रण के आविष्कार और पूँजीवादी समाज के विकास के साथ जोड़ कर देखते हैं – "उपन्यास के जन्म के पूर्व 'कथा' श्रव्य ही होती थी। कथा और उपन्यास का एक अंतर प्रथम का श्रव्य और दूसरे का पाठ्य होना भी है। अत: उपन्यास के अंकुरण और पल्लवन के लिए जरूरी बुनियादी संरचना के रूप में गद्य का विकास और मुद्रण यंत्र का अविष्कार आवश्यक था। योरोप में तेरहवीं शताब्दी में मुद्रण यन्त्र का अविष्कार हुआ जिससे गद्य के विकास में अभूतपूर्व तेजी आयी। सामंतवाद के स्थान पर पूँजीवाद के उदय का समय

भी लगभग यही है। पूँजीवाद के साथ मध्यवर्ग का भी विकास हुआ, जिसने अपनी विशालता और बौद्धिक जागरूकता के कारण विशाल पाठक वर्ग का भी रूप ले लिया। जिसने वहाँ उपन्यास के उदय के लिए बुनियादी संरचना के निर्माण में योग दिया। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही योरोप में उपन्यास अस्तित्व में आ गया।"[1]

भारत में नवजागरण का प्रसार पहले बंगाल फिर महाराष्ट्र से होता हुआ उत्तर भारत में हुआ और उपन्यास का विधागत विकास भी इसी क्रम में हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि पश्चिम का प्रभाव ही उपन्यास के उद्भव का एक मात्र कारण है और उपन्यास अंग्रेजी 'नॉवेल' की नकल। पश्चिम में उपन्यास के उद्भव की परिस्थितियों और भारत में उसके उद्भव की परिस्थितियों में स्पष्ट अंतर है। पाश्चात्य उपन्यास पूँजीवाद की देन है तो भारतीय उपन्यास मध्यवर्ग के नेतृत्त्व में विकसित हुआ। पश्चिम में उपन्यास का मिजाज प्रतिक्रियावादी अधिक था जबकि भारत में उपन्यास समाज सुधार के साथ सांस्कृतिक मूल्यों की परम्परा से जोड़ने वाले रूप में अधिक रहा और उसी स्वरूप में समाज में स्वीकृत हुआ।

हिन्दी उपन्यास ने उपन्यास को पाश्चात्य 'नॉवेल' की नकल से एक स्वतंत्र पहचान दिलाई है, इस तथ्य की ओर आलोचकों का ध्यान कम गया है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास मेरठ, आगरा और दिल्ली क्षेत्र से ही निकले जहाँ कथा साहित्य की मौखिक परम्परा पहले से चल रही थी। हिन्दी उपन्यास के विकास को गोपाल राय इसी रूप में देखते हैं –"कथा के उपन्यास में रूपांतरण की कतिपय अनिवार्य शर्तों में इसका लिखित गद्यकथा होना जरूरी था। हिन्दी क्षेत्र में मौखिक गद्य-कथा का अस्तित्व तो सदियों से था, पर लिखित रूप में उसका प्रचलन बहुत कम था। ब्रजभाषा, हिन्दी (हिन्दवी) और राजस्थानी में लिखित गद्य कथाओं की एक क्षीण सी परम्परा अवश्य

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 13

विद्यमान थी पर उसका सम्बन्ध भी पाठक से उतना नहीं था जितना श्रोता से था।"[1]

भारतीय उपन्यास की जन्मगाथा आज भी 'जितने मुंह उतनी बातें' को चरितार्थ करती प्रतीत होती है। उसकी अवस्था उस प्रौढ़ और परिपक्व इन्सान जैसी हो चली है जो अपने जन्म की रहस्य कथा को सुलझाने के लिए बुद्धि और विद्वता के नामी-गिरामी महंतों और उनके मठों के चक्कर लगा रहा है। भारतीय उपन्यास का जन्म उपनिवेशवाद के कालखंड में हुआ, अत: उपनिवेशवाद के भारतीय समाज पर पड़े प्रभावों के आलोक में उपन्यास के उद्भव को समझना होगा। यह जांचना भी जरूरी है कि अंग्रेजी उपन्यास के मूल्य क्या थे? वे किस तरह से भारतीय समाज व भारतीय उपन्यासों के मूल्यों को प्रभावित कर रहे थे? व्यक्तिवाद, शिक्षा, स्त्री- स्वतंत्रता और शहरी समाज के उदय को आधुनिकता के बड़े लक्षणों के तौर पर पहचाना गया है, पर आधुनिकता के औपनिवेशिक लक्षण इतने यांत्रिक ढंग से भारतीय समाज पर घटित नहीं हो रहे थे। वे ऐसी बारिस की तरह न थे कि सब कुछ भिंगो दे या बहा ले जाये। परम्पराओं व स्थानीय संस्कृतियों ने कई जगहों पर अपनी निषेधाज्ञा लगा रखी थी और इसका परिणाम अच्छा भी रहा और बुरा भी।

उपन्यास के उद्भवकाल में भारतीय समाज वैचारिक द्वंद्व के दौर से गुजर रहा था। भारतीय शिक्षित समाज परम्परा से ही नहीं बल्कि आधुनिकता से भी निजी सहूलियत व हितों के हिसाब से रिश्ता कायम करने की चेष्टाएँ कर रहा था। वह जिन पश्चिमी मूल्यों से परिचय को आधुनिकता के पथ पर चलने के अवसर के रूप में देख रहा था, उन्हीं मूल्यों से उसकी परम्पराएँ गहरा द्वंद्व कर रही थीं। और भारत को बाड़हीन खेत समझने से रोक रही थी। यह द्वंद्व भी किसी निजी इच्छा का परिणाम नहीं था बल्कि इसके ठोस कारण भारतीय समाज की पुरानी बनावट में छिपे थे। हिन्दी उपन्यास की सामाजिकता और

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 14

पश्चिमी उपन्यास की वैयक्तिकता पर विचार करते हुए वैभव सिंह ने माना है "भारतीय उपन्यास हो या हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास,सभी में अंग्रेजी उपन्यासों के भव्य व्यक्तिवाद की तुलना में आधुनिकता को सीमित रूप में ही स्वीकार किया गया है। यह सीमित स्वीकार ही परम्परा अनुगामी समाज में अत्यंत रोचक व आशाजनक क्रांति का सन्देश देते प्रतीत होते हैं। उपन्यासों के उदय की सहायक परिस्थितियाँ बनने लगी थी। इतिहास में मनुष्य, काल की विराट शक्ति के सामने अपने को असहाय पाता रहा है। पर पहली बार परिवर्तन की चेतना का व्यापक पैमाने पर विकास होता है और उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास प्रामाणिक विधा के रूप में सामने आता है। कोई भी देश और समाज जब नए यथार्थ व नए ऐतिहासिक चरण में प्रवेश करता है तो अपनी संस्कृति से पुनर्संवाद भी कायम करता है। भारत में भी हिन्दी रचनात्मकता इसी पुनर्संवाद से गुजरती है और इसी से हिन्दी उपन्यास विधा का ढाँचा तैयार होता है। ध्यान रखने की बात यह है कि यह प्रक्रिया रोमांस प्रधान व कादंबरी शैली के उपन्यासों से लेकर आधुनिक ढंग के अंग्रेजी 'नॉवेल' सभी में घटित होती है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास अपने शुरुआती दौर से ही उपन्यास के भारतीयकरण का सुन्दर उदहारण बनते हैं। वे भारतीय समाज को पश्चिमी सभ्यता के खतरों से आगाह करते हैं और उसे अपने भीतर की कमियों को दूर करने की चेतावनी भी देते हैं। विचारों के स्तर पर हिन्दी उपन्यास उपनिवेशवाद की अंग्रेजी सभ्यता को कड़ी टक्कर देते हुए भारतीय समाज को अपने सर्जनात्मक मूल्यों द्वारा भारतीय विकल्प भी देते हैं।

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 11-12

1.विधागत अस्पष्टता

उपन्यास का रूपविधान अभी तक किसी सर्वमान्य परिभाषा में नहीं बाँधा जा सका है। पश्चिम में उपन्यास पंद्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण की संस्कृति की देन माना जाता है। पुनर्जागरण की संस्कृति से उद्‌भूत विचारों से ही गद्य के रूप में उपन्यास विधा का जन्म हुआ। उपन्यास का कोई निश्चित मॉडल न तो पश्चिम में बन पाया और न ही भारत में। उपन्यास किसी एक सांचे में ढल कर पाठक के सामने नीरस रूप में नहीं आया। उपन्यास कभी कथा-कहानी की किस्सागोई का सहारा लेता हुआ आगे बढ़ता है तो कभी आत्मकथ्य के रूप में आत्मकथा के करीब पहुँच जाता है। विधागत अस्पष्टता ने उपन्यास के स्वरूप को लेकर बुद्धिजीवियों के तर्कजाल को और अधिक जटिल बना दिया। जहाँ एक दूसरे को ख़ारिज करने का सिलसिला ही चल पड़ा।

हिन्दी उपन्यास का उद्भव भी इसी अस्पष्टता को लिए हुये है। उपन्यास का विधान कैसा हो और किसे उपन्यास कहा जाये? इस बात पर हिन्दी में प्रथम मौलिक उपन्यास और पाश्चात्य ढंग का प्रथम उपन्यास जैसे शब्द चल पड़े। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक भी उपन्यास के जटिल विधान को समझ नहीं पाये। आचार्य शुक्ल 'परीक्षा गुरु' को अंग्रेजी ढंग का प्रथम मौलिक उपन्यास घोषित करते हैं और देवकीनंदन खत्री को पहले मौलिक उपन्यासकार। वे श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' को सामाजिक उपन्यास के रूप में स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दी में दो तरह की उपन्यास धारा चल रही थी। एक पाश्चात्य अवधारणा को लेकर तो दूसरी भारतीय अवधारणा के साथ। ऐसे में हिन्दी उपन्यास को अंग्रेजी 'नॉवेल' का शब्दानुवाद भर ही कैसे माना जा सकता है?

हिन्दी उपन्यास नवजागरण की लहर के साथ बंगाल से आया परन्तु वह सिर्फ अंग्रेजी उपन्यास के मूल्यों से ही अनुप्राणित नहीं था। वह भारतीय कथा-कहानी की जातीय परम्परा और मूल्यों को भी लेकर आगे बढ़ रहा था। हिन्दी उपन्यास के आरम्भ को समझने के लिए उस समय की पृष्ठभूमि को भी मद्देनजर रखा जाना चाहिए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी नए ढंग के उपन्यासों को बंगभाषा की देखा-देखी हिन्दी में आना बताया है। इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दी में पुराने ढंग के उपन्यासों की परम्परा भी चल रही थी। यह उसकी अपनी परम्परा थी जिसे उपन्यास की भारतीय परम्परा भी कहा जा सकता है। "नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंग भाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।"[1]

उपन्यास विधा के सम्बन्ध में उपन्यास और महाकाव्य के चरित्र को भी समझा जाना चाहिए। उपन्यास के तत्त्व भी महाकाव्य की भांति ही पाश्चात्य और भारतीय साहित्य में गिनाये जाते हैं। कथानक, चरित्र, देशकाल, भाषा जैसे तत्त्व ही महाकाव्य और नाट्य साहित्य में शास्त्रीयता के आधार बनकर रचना के मूल्यांकन में सहायक बनते हैं। महाकाव्यों और पौराणिक कथाओं के नायक जहाँ असाधारण चरित्र के होते थे जबकि उपन्यास का नायक अपने साधारणपन में अधिक आकर्षक लगता है। यही कारण है कि उपन्यास महाकाव्य की तुलना में अधिक लौकिक है और उसकी विषयवस्तु अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय जान पड़ती है। उपन्यास मनुष्य जीवन की जटिल कहानी तो कह सकता है पर उस जटिलता को अलौकिक और अविश्वसनीय नहीं बनने देता है।

[1]रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृष्ठ 342

भारतीय उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है कि अपने आरम्भ काल से ही वे पश्चिमी विधा के अनुभवों और संस्कारों के नकलची नहीं बने, यथार्थ के अधिक सघन अनुभवों को देशी भाषाओं में व्यक्त करते रहे। हिन्दी उपन्यास की यह मौलिक विशेषता है कि भले ही वह औपनिवेशिक गुलामी के दौर में विकसित हुआ या उपनिवेशवाद से निकला परन्तु उसने उपनिवेशवाद के खिलाफ जनमानस को जाग्रत किया तथा अपने विधान का सफलतापूर्वक भारतीयकरण भी किया।

हिन्दी उपन्यास में पश्चिम के अनुकरण के साथ भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा के मेल को बच्चन सिंह अपने इतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' इस प्रकार देखते है –"इन उपन्यासों का समग्र आंकलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें पुरातन प्रियता और नयेपन का मिला-जुला रंग हैं, एक ही स्थान पर प्रतिक्रिया और प्रयोग का संगम है। किन्तु नारी शिक्षा, अनमेल विवाह का विरोध, स्त्री स्वातंत्र्य आदि ऐसे विचार बिंदु हैं जो आगे के उपन्यासों में मिलते हैं। कथावस्तु के निर्माण में घटनाओं का अंबार लगा हुआ है, घटनाएँ भी वैचित्र्यपूर्ण, विस्मयावह और रोमांचकारी। पात्र अच्छे बुरे खानों में बंटे हुए हैं, उपदेशों की कम भरमार नहीं है। रूपात्मक दृष्टि से इन्हें निर्माणात्मक अवस्था का उपन्यास कहा जा सकता है। प्रेमचंद ने धीरे-धीरे अपने को इससे मुक्त किया।"[1]

हिन्दी उपन्यास के उद्भव को बच्चन सिंह मध्यवर्ग की आकांक्षा के रूप में देखते हैं तो गोपाल राय मध्यवर्ग की भूमिका नकारते हैं। गोपाल राय का विचार है, "भारतेन्दु काल के लेखकों ने मध्यवर्गीय पाठकों की मांग पर नहीं, देशहित से प्रेरित होकर उपन्यास लिखे। इनमें से कई तो तुरन्त (या बाद में भी) प्रकाशित भी नहीं हो सके और जो प्रकाशित हुए उन्हें लेने वाला कोई

[1] बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ 304

नहीं था। अत:हिन्दी उपन्यास के उदय का सम्बन्ध मध्यवर्ग से न के बराबर ही माना जा सकता है।"[1]

उपन्यास की विधागत अस्पष्टता इसलिए नहीं थी कि उपन्यास भारतीय साहित्य के लिए नयी विधा था। उपन्यास का कलेवर आज भी अपने रूप विधान को लेकर उतना ही अस्पष्ट बना हुआ है जितना अपने आरम्भिक दौर में था। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास अपने रूप विधान से अधिक मूल्यों की नवीनता से पहचाने जाते हैं। यही कारण है कि साहित्य की इस परिवर्तनकामी विधा को कभी अंग्रेजी उपन्यास का अनुकरण तो कभी भारतीय कथा-कहानी की जातीय परम्परा का यथार्थग्राही नया संस्करण कहा गया। हिन्दी उपन्यास किसी एक सांचे में नहीं ढला, इसका कारण भी उसका परम्परा और नवीनता को साधना ही रहा है। विधान की अस्पष्टता ने आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों को प्रयोग का अवसर दिया जिससे उपन्यास अधिक नवीन और सहज रूप में साथ आगे बढ़ पाया। यद्यपि हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस का एक बड़ा कारण उपन्यास की विधागत अस्पष्टता भी है परन्तु इसका सुखद परिणाम यह रहा कि न तो भारतीय उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों की नकल भर बने और न ही भारतीय कथा के गैर-यथार्थवादी और अविश्वसनीय मायालोकी संसार में गोते लगाने वाले काल्पनिक साहित्यिक रूप। सच तो यह है कि हिन्दी उपन्यास में संतुलन की संस्कृति उसके विधान की अस्पष्टता के बीच से ही निकली है। जहाँ वह अपने नवीन शिल्प और कथा के भारतीय रूप, दोनों को साधते हुए आगे बढ़ता रहा। उपन्यासकारों के सामने असीमित वितान था था जिसमें वह अपनी बात को कहने के लिए मनचाहे तरीके से कह सकते थे। पाठक समुदाय भी किसी एक सांचे में न ढलकर इन उपन्यासों को खुले मन से स्वीकार करता रहा।

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 22

2.हिन्दी का पहला उपन्यास

हिन्दी का पहला उपन्यास किसे माना जाये? हिन्दी उपन्यास का आरम्भ कब से माना जाये? अगर अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' है तो क्या भारतीय ढंग से उपन्यास लेखन की भी कोई परम्परा स्वीकार की जाये? हिन्दी उपन्यास के उद्भव के सम्बन्ध में यह सवाल आज भी अनुत्तरित है। उपन्यास विधा की तरह हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस भी 'मुंड-मुंडे मतिर्भिन्ना' की तर्ज पर आज भी जारी है। उपन्यास की अवधारणा का स्पष्ट नहीं होना ही मत वैभिन्य का बड़ा कारण है। हिन्दी उपन्यास न तो पूरी तरह से अंग्रेजी उपन्यास की नकल के रूप में आया और न ही हमारी पुरानी मौखिक कथा-आख्यायिका का लिखित कथा विन्यास। हिन्दी उपन्यास ने पश्चिम और पूर्व दोनों की कथाधारा को साधने का प्रयास किया। यही कारण है कि वह अपने नये विधान में चौंकाता जरूर है परन्तु उसकी नवीनता विदेशी नहीं लगती है।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकार इस दृष्टि से साधुवाद के पात्र हैं कि उन्होंने इस नवीन विधा को नकल के स्थान पर नवीन के रूप में प्रस्तुत किया। हिन्दी उपन्यास अपने आरम्भ से ही भारतीय मूल्यों का हिमायती बनकर पाठक को भटकाव से बचाता रहा। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास कथा, शिल्प और 'विजन' की दृष्टि से किसी एक प्रवाह में नहीं बहते हैं। वे नवजागरण के मूल्यों को अभिव्यक्त भी करते हैं और इससे आगे का 'विजन' भी पाठक के सामने रखते हैं। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की इसी विशेषता को वैभव सिंह ने इस प्रकार देखते हैं "न तो वह भारतीय उपन्यास की यांत्रिक मौलिकता के नाम पर प्राचीन कथा-कहानियों की शैली के बंधक बने और न उन्होंने उपन्यास के पश्चिमी फार्म व कथ्य का अन्धानुकरण किया। प्रेमचंद अपने 1925 ई० के निबन्ध 'उपन्यास' में खुद भी मानते हैं कि उपन्यास भारतीय

जमीन पर लगा पश्चिमी पौधा है। पर वह आश्वस्त थे कि मानव चरित्र की विविधता व भारतीय जीवन के यथार्थ के चित्रण के माध्यम से उपन्यास स्वयं अपना भारतीयकरण कर लेगा। उनका यह विश्वास सभ्यतागत मूल्यों के संयोग से फलित रचनात्मकता पर आधारित था। जिस तरह राष्ट्र व भारतीय मध्यवर्ग का गठन पश्चिम व भारतीयता के मिले–जुले रूप, सम्मिश्र रूप से हुआ, उसी प्रकार भारतीय उपन्यास भी जातीय परम्परा व पश्चिमी मूल्यों के साहचर्य का परिणाम रहा है। उपन्यास जैसी यूरोपीय विधा के रूपबंध में गैर पश्चिमी लेखकों ने अपने जातीय अनुभवों व संस्कृति को जज्ब कर लेने में हमेशा ही असफलता नहीं पाई है। यानि प्राय: वे सफल भी हुए हैं।"[1]

हिन्दी उपन्यास नवजागरण की चेतना लेकर आया। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास इस नवजागरण की संस्कृति को कभी पश्चिम से टकराहट के साथ तो कभी अपने भीतर के समाज में सुधार के साथ अभिव्यक्त करते रहे हैं। हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस में जाने से पहले यह भी देखा जाना जरूरी है कि हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास किस 'विजन' को लेकर आगे बढ़ रहे थे। उनमें पश्चिमी उपन्यास के मूल्यों का कितना अनुकरण था और कितने वे भारतीय कथा विधान के साथ लिखे जा रहे थे। उनकी आधुनिकता कितनी परम्परा का बहिष्कार लिए थी और कितनी परम्परा को पल्लवित किये। यद्यपि वैभव सिंह को आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में सुधारवाद का स्वर ही अधिक सुनाई पड़ता है। उनके अनुसार यह सुधारवाद पश्चिम के मूल्यों से प्रेरित न होकर पश्चिम के अन्धानुकरण से बचाने का अधिक था। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास इस दृष्टि परम्परा से मोह और परम्परा से प्रतिरोध की टकराहट दोनों साथ लिए हैं। इन आरम्भिक उपन्यासों में विधागत वैशिष्ट्य से अधिक मूल्यगत वैशिष्ट्य अपनी पहचान रखते हैं। रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है - "सन 1877 ई० में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास की आधुनिकता, पृष्ठ 14

उपन्यास लिखा था, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी। यह अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास चाहे न हो किन्तु विषयवस्तु की नवीनता की दृष्टि से इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास अवश्य कहा जा सकता है।"[1] रामचंद्र तिवारी ने एक अन्य उपन्यास का भी जिक्र किया है परन्तु प्रामाणिकता के अभाव में इसे ख़ारिज कर दिया- "इसके पूर्व सदानंद मिश्र और शंभुनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित जिस 'मनोहर उपन्यास' (सन् 1871 ई०) का उल्लेख डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने किया है वह एक तो संपादकों द्वारा संग्रहीत और संशोधित होने के कारण निश्चय ही मौलिक नहीं है। दूसरे उसकी कथावस्तु के विषय में कोई जानकारी नहीं होने के कारण उसकी आधुनिकता भी विवादास्पद है।"[2]

विजयशंकर मल्ल ने 'भाग्यवती' उपन्यास का सम्पादन किया था। सम्पादकीय में विषयवस्तु की नवीनता के आधार पर भाग्यवती को उन्होंने हिन्दी का पहला उपन्यास घोषित किया। भट्ट मधुकर ने अपनी पुस्तक 'बालकृष्ण भट्ट' में प्रकाशन तिथि के आधार पर बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास 'रहस्य कथा' को हिन्दी का पहला उपन्यास माना है। उनका कहना है कि, "वास्तव में हिन्दी के विद्वानों ने भट्ट जी के 'रहस्य कथा' उपन्यास की ओर ध्यान ही नहीं दिया, जो 'हिन्दी प्रदीप' में छपा था। भाग्यवती का मुद्रण और प्रकाशन सन् 1887 ई० में हुआ और 'परीक्षा गुरु' का सन् 1882 ई० में हुआ। जबकि 'रहस्य कथा' 'हिन्दी प्रदीप' के नवम्बर 1879 ई० के अंक में पृष्ठ 6 पर छपा था। इस प्रकार 'रहस्य कथा' ही हिन्दी का पहला उपन्यास प्रमाणित होता है और भट्ट जी हिन्दी के पहले उपन्यासकार सिद्ध होते हैं। दुर्भाग्यवश भट्ट जी की रचनाएँ काल के अंधकार में इतनी लुप्त थीं कि उनका पता लगाना कठिन हो गया। उनकी अन्य कृतियों के साथ-साथ उपन्यासों के सम्बन्ध में भी

[1] रामचंद्र तिवारी –हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृष्ठ 146
[2] वही

विद्वान अनभिज्ञ हैं। मेरी समझ में इसका एकमात्र 'हिन्दी प्रदीप' की दुर्लभता है। "[1]

हिन्दी का पहला उपन्यास किसे माना जाये इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक भी शब्दों के हेरफेर से ही काम चलाते रहे हैं। डॉ०नगेन्द्र ने अपने सम्पादित इतिहास ग्रन्थ में पहले उपन्यास की पहेली को शुक्ल जी के अनुकरण में ही लिख दिया। वे भी अंग्रेजी ढंग का पहला हिन्दी उपन्यास तो 'परीक्षा गुरु' को बताते हैं पर इसके पहले 'भाग्यवती' को सामाजिक उपन्यास के रूप में भी स्वीकार करते हैं। डॉ० नगेन्द्र हिन्दी उपन्यास के विकास क्रम में बंगला उपन्यासों के अनुवादों का भी जिक्र करते हैं जैसा कि आचार्य शुक्ल जी ने किया। डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दी उपन्यास की पृष्ठभूमि को इस प्रकार से विकसित बताया है –"भारतेन्दु-युग के उपन्यास लेखकों को उपन्यास लेखन की प्रेरणा बंगला और अंग्रेजी उपन्यासों से प्राप्त हुई। अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु'(सन् 1882 ई०) माना जाता है। इसके पूर्व श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' (सन्1877 ई०) शीर्षक लघु सामाजिक उपन्यास लिखा था। 'भाग्यवती' के पूर्व बंगला में सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के अच्छे उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की रचना आरम्भ होने के पूर्व बंगला उपन्यासों के अनुवादों को लोकप्रियता मिल चुकी थी। हिन्दी के भारतेन्दु युगीन मौलिक उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य एवं परवर्ती नाटक साहित्य के प्रभाव के साथ ही बंगला उपन्यासों की छाप भी लक्षित की जा सकती है।"[2] डॉ० नगेन्द्र ने भाग्यवती को भी सामाजिक उपन्यास माना है, 'परीक्षा गुरु' को अंग्रेजी ढंग का सामाजिक उपन्यास कहा है- "भारतेन्दु युगीन

[1] भट्ट मधुकर, बालकृष्ण भट्ट, पृष्ठ 237

[2] नगेन्द्र (संपा०),हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 461

उपन्यासों में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त धारा उन सामाजिक उपन्यासों की है, जिनका श्रीगणेश 'परीक्षा गुरु' से ही हुआ था।"[1]

बच्चन सिंह ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में हिन्दी उपन्यास के उद्भव को मध्यवर्ग की आकांक्षा से जोड़कर देखा है परन्तु हिन्दी का पहला उपन्यास किसे माना जाये, यह निर्धारित नहीं कर सके। यद्यपि वे अब तक पहले उपन्यास की पूर्व मान्यताओं को ख़ारिज जरूर करते हैं। आगे चलकर वे शुक्ल जी की मान्यताओं का सहारा लेकर उनकी बात का 'यही सही है' कर समर्थन भी कर देते हैं- " इस काल में व्यापारियों और पढ़े-लिखे लोगों का एक मध्यवर्ग पैदा हो गया था। उपन्यास का आविर्भाव मध्यवर्गीय आकांक्षाओं और समस्याओं को लेकर हुआ। कुछ लोग इसका आरम्भ भारतेन्दु की 'एक कहानी: कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' से मानते हैं। इसके कुछ ही पृष्ठ लिखे गये थे। किन्तु विद्वानों के अनुसार इसमें उपन्यास की संभावनाएं हैं। परन्तु इसके आधार पर भारतेन्दु को हिन्दी उपन्यासों का पुरस्कर्ता नहीं माना जा सकता। हिन्दी उपन्यासों की परम्परा को पीछे ढकेलने की प्रवृत्ति के कारण कुछ लोग 'देवरानी जेठानी की कहानी'(सन्1870 ई०) 'वामाशिक्षक' (1872 ई०) 'भाग्यवती'(1872 ई०) को हिन्दी के पहले उपन्यासों में गिनते हैं। पर ये स्त्रीजनोचित शिक्षा ग्रन्थ हैं। इनमें औपन्यासिक तत्वों का अभाव है। - - - शुक्ल जी ने लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' (1882 ई०) को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना है। यही सही है।"[2] 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में दी गयी 'भाग्यवती' की तिथि में शायद प्रकाशकीय त्रुटि है। 'भाग्यवती' की रचना सन् 1877 ई० और प्रथम प्रकाशन सन् 1887 ई० में हुआ जबकि बच्चन सिंह के इतिहास ग्रन्थ में सन् 1872 ई० दी गयी है जो किसी भी प्रकार से सही नहीं है।

---

[1] वही, पृष्ठ 462

[2] बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ -301

गोपाल राय ने पंडित गौरीदत्त द्वारा रचित 'देवरानी-जेठानी की कहानी' को हिन्दी की पहली उपन्यास पुस्तक के रूप में स्वीकार किया है। इन्होंने ने बंगला से अनूदित उपन्यासों के साथ अन्य अनूदित कथापुस्तकों के बीच 'देवरानी-जेठानी की कहानी' को एक नया फूल कहा है जो अपनी विषयवस्तु और नवीनता में उपन्यास कहलाने का अधिकार रखती है- "सन् 1860 ई० में डेनियल डीफो कृत 'रोबिन्सन क्रूसो' का पं०बदरीलाल कृत 'रोबिन्सन क्रूसो का इतिहास' प्रकाशित हुआ जो हिन्दी का पहला अनूदित उपन्यास कहा जा सकता है। यह अनुवाद अंग्रेजी से नहीं बल्कि बंगला से किया गया था और हिन्दी पाठको के बीच पर्याप्त लोकप्रिय भी हुआ था। - - - सन 1861-70 के दशक में नल प्रसंग, नया काशीखण्ड, राजदूतों की कथा, फूलमणि और करुणा का वृत्तान्त, शनैशचर जी की कथा, सिकन्दरशाह पातशाह के शाहजादे रमन शाह का किस्सा, प्रह्लाद चरित्र, बुद्धि फलोदय, कृष्ण जन्म खण्ड, रामाश्वमेध, तीन देवों की कहानी आदि अनूदित कथा-पुस्तकें प्रकाशित हुई। इसी झाड़झंखाड़ के बीच सन् 1870 ई० में 'देवरानी- जेठानी की कहानी' (पं०गौरीदत्त) के रूप में एक नया फूल खिला, जो हिन्दी उपन्यास का आरम्भ बिन्दु सिद्ध हुआ।"[1]

गोपाल राय का मानना है कि जब भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने पहली बार सन् 1875 ई० में उपन्यास पद का प्रयोग किया या 'एक कहानी : कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखने का प्रयोग किया उस समय उन्हें कदाचित इस बात का ज्ञान नहीं था कि 'देवरानी- जेठानी की कहानी' (पं०गौरीदत्त) के रूप में उपन्यास का जन्म हो चुका था। वे 'देवरानी-जेठानी की कहानी' की चर्चा में सैयद इंशाअल्ला खां द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' का जिक्र भी किया है - " 'रानी केतकी की कहानी' (सन 1803 ई०) यद्यपि हिन्दी की पहली मौलिक, लिखित और मुद्रित गद्यकथा है पर यह उपन्यास नहीं। यह

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 21

मध्यकालीन सूफी प्रेमाख्यानों की पद्धति पर रचित गद्यकथा है। जिसमें अतिलौकिक तत्त्वों, फारसी कथानक रूढ़ियों तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों से भरी एक प्रेम कहानी है। - - - समकालीन जीवन के यथार्थ से जो उपन्यास की प्रथम पहचान है इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। रानी केतकी की कहानी (1803 ई.) से लेकर सन् 1869 ई. तक हिन्दी में कोई दूसरी मौलिक गद्य-कथा नहीं लिखी गयी।"[1]

गोपाल राय उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता उसका यथार्थवादी होना मानते हैं। उनका मानना है कि 'देवरानी-जेठानी की कहानी' का लेखक इस बात के लिए सजग है जिसे वह उपन्यास की भूमिका में ही स्पष्ट कर देता है "मैंने इस कहानी को नये रंग-ढंग से लिखा है"। (भूमिका- 'देवरानी जेठानी की कहानी') यह नया रंग-ढंग कहानी की विषयवस्तु और भाषा दोनों में दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार 'देवरानी-जेठानी की कहानी' में हिन्दी का पहला उपन्यास बनने की पूरी क्षमता है जो अपनी कमियों के होते हुए भी पहला उपन्यास कहलाने का प्रबल दावेदार है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' को विश्वसनीय और यथार्थवादी बनाने के लिए उस प्रणाली का प्रयोग किया गया है जो हिन्दी के लिए सर्वथा नयी थी। इस कथा में जिन स्थानों और पात्रों का वर्णन किया गया है वे विशिष्ट तथा यथार्थ हैं। पात्रों के नामों और घटनाओं के चित्रण में यथार्थता और वास्तविकता ने इसे उपन्यास की श्रेणी में ला दिया है। यही उपन्यास की अनिवार्य शर्त होती है –"सर्वथा मौलिक और नए ढंग से कथा लिखने का प्रथम प्रयास पं० गौरीदत्त ने ही किया। 'देवरानी-जेठानी की कहानी' की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पहली बार परम्परा से हटकर कथा कहने का प्रयास किया गया है। कथाकार ने पुराने आख्यान लेखकों की तरह किसी राजा, सेठ, सामंत या शूरवीर की कथा न कहकर साधारण मध्यवर्गीय वैश्य परिवार की देवरानी जेठानी की कहानी

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 20

कही है। इन दोनों पुस्तकों के शीर्षकों में 'कहानी' शब्द है पर एक में रानी की कहानी है और दूसरे में एक साधारण परिवार की स्त्रियों, सुखदेई और ज्ञानो की। राजप्रासाद से सामान्य गृहस्थ के आँगन तक कहानी की यह छलांग अभूतपूर्व कही जा सकती है।"[1]

'देवरानी जेठानी की कहानी' का नया संस्करण जो रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड – द्वारा सन 2006 ई. छपा। इसके सम्पादकीय में पुष्पपाल सिंह ने इसे हिन्दी का पहला उपन्यास तो माना ही साथ ही हिन्दी उपन्यास विधा का मॉडल भी घोषित कर किया। सम्पादक का अतिरिक्त मोह या भावावेश ही माना जायेगा। वे लिखते हैं –"पं.गौरीदत्त कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' हिन्दी का प्रथम श्रेण्य (क्लासिक श्रेणी का) का उपन्यास है। यह उपन्यास अपने कथ्य में गहरी सामाजिक सम्पृक्ति और यथार्थ के खांटी रूप को प्रस्तुत करने में तो बेजोड़ है ही, भाषा-शैली और शिल्प की दृष्टि से भी अपने समय से बहुत आगे की रचना है। मेरा दृढ विश्वास है कि यदि हिन्दी उपन्यास ने पं० गौरीदत्त की उपन्यास परम्परा का अनुगमन किया होता तो आज वह और भी समृद्ध होता। आदर्श और यथार्थ का जैसा संतुलित सम्मिलन इस उपन्यास में हुआ है, वह 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का एक प्रतिमान (मॉडल) है।"[2]

'देवरानी जेठानी की कहानी' को हिन्दी का आरम्भिक उपन्यास मानते हुए भी गोपाल राय इसके कमजोर पक्ष को भी सामने रखते हैं, जबकि पुष्पपाल सिंह इन कमियों को नजरअंदाज करते हैं। पुष्पपाल सिंह न गोपाल राय से सहमत और न ही बच्चन सिंह से जो इसे उपन्यास तत्त्व से रहित स्त्री शिक्षाजनित रचना मानते हैं। गोपाल राय मानते हैं - "कथ्य की दृष्टि से 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास की शर्त को पूरा करती है। यद्यपि यह

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 24

[2] पुष्पपाल सिंह (संपा०), देवरानी जेठानी की कहानी, भूमिका

कथ्य 'विजन' में परिणत नहीं हुआ है। पर उपन्यास की पहली ही किताब से यह उम्मीद करना भी संगत नहीं है। किसी भी उपन्यास की अन्य विशेषताएं होती है – चरित्रांकन, शिल्प और भाषा की सर्जनात्मकता आदि। पर इन दृष्टियों से 'देवरानी जेठानी की कहानी' निश्चय ही एक कमजोर रचना है। लेखक कथा के पात्रों को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने में सफल नहीं हुआ है। यद्यपि कथा के अधिकतर पात्र यथार्थ और हमारे बीच के व्यक्ति हैं, उच्च कोटि के चरित्र सृजन के लिए जिस संवेदनशीलता, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, चिंतन-क्षमता आदि की आवश्यकता होती है, उसका कथाकार में सर्वथा अभाव है।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के शिल्प विधान के सम्बन्ध में विचार करते हुए गोपाल राय ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' के शिल्प विधान की कमजोरी का भी संकेत करते हैं - "'देवरानी की जेठानी कहानी' का शिल्प भी औपन्यासिक स्तर का नहीं है। इसकी कथा इकहरी 'मेरठ में सर्वसुख नामक एक अग्रवाल बनिया था' जैसे वाक्यों से आरंभ होने वाली तथा ऐतिहासिक काल में अग्रसर होने वाली है। समयानुक्रम में परिवर्तन करके या काल गति को स्थगित करके, नाटकीय पद्धति पर कार्य व्यापारों की योजना, समय के निलंबन द्वारा कथा में रहस्य या कौतूहल की सृष्टि आदि औपन्यासिक शिल्प की विशेषताओं का इसमें अभाव है। इसी प्रकार अज्ञात परिणाम को संकेतित करने वाले, संकट बिंदु से संपन्न तथा जिज्ञासा को उत्तेजित करने वाले कार्यकलाप इस कथा में विरल है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' का शिल्प पुराने किस्सों का शिल्प है, कथाकार ने उसमें कोई प्रयोग नहीं किया है।"[2] इन कमियों के बावजूद भी गोपाल राय 'देवरानी जेठानी की कहानी' को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं जिसका कारण उसका प्रकाशन में पहले आना नहीं है अपितु यथार्थ की नवीन अभिव्यक्ति और इसकी कथा का सीधे नवजागरण की चेतना से जुड़ना है।

---

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास,पृष्ठ 27

[2] वही, पृष्ठ 28

गोपाल राय ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' में जिस 'विजन' का अभाव बताया है वह 'विजन' आगे चलकर श्रद्धाराम फिल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' (सन् 1877 ई०) में नजर आया। बात अंग्रेजी ढंग के उपन्यास की नहीं भारतीय ढंग के उपन्यास की हो रही है। क्योंकि 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास नहीं, हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास है। जब तक पहले उपन्यास की पहेली सुलझ न जाये तब तक अंग्रेजी ढंग और भारतीय ढंग की बहस का कोई खास औचित्य भी नहीं रह जाता है। अगर 'परीक्षा गुरु' को हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाये तो नवजागरण की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', और 'भाग्यवती' को कौन सी श्रेणी में रखा जायेगा। इस तर्क के आधार पर कि ये तीनों स्त्रीशिक्षाजनित गद्यकथाएं हैं तो यह तर्क तो परीक्षागुरु को भी ख़ारिज करवा देगा। क्योंकि 'परीक्षा-गुरु' भी तो एक पुरुष शिक्षापरक रचना है। 'परीक्षा-गुरु' की समस्या भले ही नवीन हो परन्तु उसकी उपदेशात्मकता तो उसे पौराणिक साहित्य की श्रेणी में पहुँचा देती है। यह भी सच है कि जिन ज्वलंत मुद्दों को 'देवरानी जेठानी की कहानी' 'वामाशिक्षक' और 'भाग्यवती' में उठाया गया है वे इतने स्पष्ट रूप में 'परीक्षा-गुरु' में नहीं आये हैं।

नवजागरण का क्रन्तिकारी प्रभाव स्त्रीशिक्षा के रूप में ही माना जाता है। ये तीनों उपन्यास भी स्त्री-चेतना की दृष्टि से लिखे गये हैं। 'परीक्षा-गुरु' में कथा को कहने का तरीका जरूर नया है परन्तु कथा उतनी नयी नहीं है। साथ ही उपन्यास यथार्थ की समस्या को नीति के फेर में इतना उलझा देता है कि समाधान के प्रयास उतने हृदयग्राही नहीं बन पाते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों की त्रयी (आचार्य रामचंद्र शुक्ल ,बच्चन सिंह और नगेन्द्र) ने 'परीक्षा–गुरु' को ही अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक हिन्दी उपन्यास माना है। अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए पर यह अंग्रेजी ढंग की मौलिकता क्या है? 'परीक्षा-गुरु' में यह मौलिकता कहाँ-कहाँ

हो सकती है? इस विषय पर चर्चा जरूर होनी चाहिए। क्या 'परीक्षा-गुरु' शिल्प की मौलिकता के आधार पर ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास कहा जाने का अधिकारी है? क्या उपन्यास के लिए शिल्प की मौलिकता ही मुख्य है या कथ्य की यथार्थता और वास्तविकता का भी कोई मूल्य है? कथा को उपन्यास बनाने वाले 'विजन' की क्या भूमिका होगी? इस पर भी आलोचकीय दृष्टि से विचार होना चाहिए। 'विजन' के संदर्भ में 'भाग्यवती' की औपन्यासिकता 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'परीक्षा-गुरु' से आगे है पीछे नहीं। गोपाल राय को 'देवरानी जेठानी की कहानी' में जिस 'विजन' का अभाव खटका उसे 'भाग्यवती' में स्पष्ट देखा जा सकता है। 'भाग्यवती' उपन्यास स्त्री-चेतना के साथ स्त्री स्वावलंबन और स्त्रियों के लिए व्यायाम की उपयोगिता का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। आज भले ही यह बात सामान्य लगे या जीवन का सहज हिस्सा, परन्तु आज से 140 वर्ष पहले (1877 ई०) स्त्रियों के लिए स्वावलंबन और शारीरिक व्यायाम की बात सोचना बड़ी बात थी। उस समय की दृष्टि से यह एक अनहोनी ही कही जायेगी। गोपाल राय ने भी स्वीकार किया है कि भाग्यवती का चरित्र अविश्वसनीय होने पर भी स्वावलंबन का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। जन्म से बालकों और बालिकाओं को समान महत्त्व की बात कहकर कथाकार ने ऐसी जागरूकता का परिचय दिया है जो आज भी सार्थक है। अगर इस उपन्यास के 'विजन' का अनुसरण होता तो आज आधुनिकता की आँधी में अँधे हुए समाज को सरकारों द्वारा 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' का उपदेश नहीं देना पड़ता, जो आज के आधुनिक समाज के मुंह पर तमाचे की तरह है।

भाषा की दृष्टि से भी गोपाल राय ने 'भाग्यवती' को औपन्यासिक कृति माना है। उनका मानना है कि "भाषा की दृष्टि से भी 'भाग्यवती', 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामाशिक्षक' दोनों की तुलना में उपन्यास के कुछ और निकट पहुँच गयी है। - - - इसकी नवीनता यह है कि पात्रों से उनकी मातृभाषा, शिक्षादीक्षा और चरित्र के अनुरूप पंजाबी, बांगड़ू, बनारसी,

पंडिताऊ और सरकारी अमलों की भाषा का प्रयोग करवाया है। - - - पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग 'उपन्यास' की विशेषता है, जो प्रथम बार भाग्यवती में दिखाई पड़ती है।"[1]

शिल्प की दृष्टि से भाग्यवती भी कमजोर रचना है इसका शिल्प 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामाशिक्षक' की तरह ही किस्सागो शैली का है। इसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है। प्रसंग निर्माण की क्षमता दोनों पूर्ववर्ती कथाकारों से अधिक है परन्तु उनमें कथा को मार्मिक बनाने की क्षमता नहीं आ पाई। प्रसंगों की नवीन उद्भावना 'भाग्यवती' को उपन्यास के और निकट ले जाता है। हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' (सन्1882 ई०) को माना जाता रहा है, जिसका शिल्प विधान भारतीय कथा-आख्यायिका से आगे का है। यहाँ यह बात समझने की आवश्यकता है कि अंग्रेजी ढंग का होने से ही यह हिन्दी का पहला उपन्यास नहीं हो जाता है क्योंकि उपन्यास की शर्त अंग्रेजी ढंग का होना नहीं अपितु यथार्थ का आग्रह और घटना की विश्वसनीयता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास के विवाद में पड़े बिना आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मत का समर्थन किया है। परन्तु उनके शिष्य नामवर सिंह ने 'परीक्षा-गुरु' ही नहीं अंग्रेजी ढंग के उपन्यासों पर ही सवालिया निशान लगाते हुए इसे भारतीय उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक बताया है। उन्होंने अपने लेख 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' में 'परीक्षा गुरु' को उन्नीसवीं सदी के बंगला उपन्यासों की तुलना में काफी रद्दी और बेकार बताया है। उन्होंने किसी उपन्यास की सिर्फ इस आधार पर सराहना करना कि वह अंग्रेजी ढंग का नॉवेल है, की भूरी-भूरी निंदा की है- "कैसी विडम्बना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेजी ओरिएंटलिस्ट कादम्बरी, कथा-सरित्सागर, पंचतंत्र जैसी भारतीय कथाओं के

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ – 34-35

पीछे पागल थे, स्वयं भारतीय लेखक तब अंग्रेजी ढंग का नॉवेल लिखने के लिए व्याकुल थे। ये हैं उपनिवेशवाद के दो चेहरे।"[1] नामवर सिंह ने जातीय स्मृतियों की रक्षा के लिहाज से उपन्यास या नॉवेल की जगह मराठी में प्रचलित शब्द कादम्बरी को अपनाने की वकालत की है। यहाँ एक सवाल खड़ा होता है कि नामवर सिंह ने जिस जातीय परम्परा की दुहाई देकर दुर्गेशनंदिनी (सन्1864), कपालकुंडला (सन्1866) या मृणालिनी (सन्1869) जैसे रोमांसधर्मी उपन्यासों को भारतीय उपन्यासों की मौलिक विकास प्रक्रिया से जोड़ा, क्या उसमें यथार्थधर्मिता का भी निर्वाह हो सकता था? भारतीय राष्ट्र और जीवन की जटिल स्थितियां को क्या रोमांसधर्मिता के बल पर व्यक्त किया जा सकता था? नामवर सिंह लिखते हैं – "उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्त्व कपालकुंडला (सन्1866) करती है, 'परीक्षागुरु' नहीं। 'परीक्षागुरु' का महत्त्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी हिन्दी के लिए! जबकि 'कपालकुंडला' अपने जमाने की अत्यधिक लोकप्रिय कृति होने से साथ स्थायी कीर्ति की हकदार है। तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचन्द्र के रोमांसधर्मी उपन्यासों ने भारतीय राष्ट्र के भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।"[2]

यथार्थ और रोमांस में यथार्थ भेद तो नहीं पर रोमांस के ढांचे में ही किसी रचनाकार पर यथार्थ को व्यक्त करने की विवशता थोपी जाये यह भी गलत है। सच तो यह भी है कि बंकिमचंद्र स्वयं ने भी आनंदमठ तक आते-आते रोमांस या प्रेमकथाओं का दुखांत आग्रह छोड़ कर उस रूपबंध को अपना लिया जो अंग्रेजी ढंग के नॉवेल के ही ज्यादा नजदीक है। जातीय स्मृतियों की रक्षा और परम्परा का जुड़ाव सिर्फ साहित्य के पारम्परिक रूपों में ही नहीं बल्कि आधुनिक रूपों में सुरक्षित रह सकता है

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 31

[2] नन्द किशोरनवल(संपा०) नामवर संचयिता, पृष्ठ 263-264

हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस पर वैभव सिंह ने अपनी पुस्तक 'भारतीय उपन्यास और आधुनिकता' के दूसरे अध्याय 'परीक्षा-गुरु के बहाने राष्ट्रविमर्श' में सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा है-"हिन्दी का पहला उपन्यास किसे माना जाये –इस पर विवाद बरकरार है। इसी का परिणाम है कि जिन उपन्यासों के बीच यह विवाद है, उन सभी को लोग अपने -अपने ढंग से पहला उपन्यास मानने के लिए स्वतंत्र भी रहे हैं। यह एक सत्य को विद्वानों द्वारा कई तरह से कहने का नहीं बल्कि अपने-अपने सत्य के लिए उनके बीच तीखी बहस का उदहारण है। मुख्य रूप से पं० गौरीदत्त के उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (सन्1870), श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' (सन्1877) और लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा-गुरु'(सन् 1882) के इर्द-गिर्द ही यह विवाद घूमता रहा है कि इनमें से किसे पहला उपन्यास माना जाये। कालक्रम के हिसाब से विवाद को सुलझाने की कोशिश की जाये तो विवाद दिखता ही नहीं क्योंकि सबसे पहले 'देवरानी जेठानी की कहानी' ही प्रकाशित हुआ था। हाल ही में 'रेमाधव प्रकाशन' से इसका जो संस्करण छपा है उसमें सबसे ऊपर इसे ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास घोषित किया गया है। 'भाग्यवती' की भाषा काफी प्रौढ़ और सुलझी हुई है और इस वजह से उसे भी पहले उपन्यास का दर्जा कई आलोचकों ने दिया है। पूरा विवाद एक नए संवाद की जरूरत को तब रेखांकित करता है जब उपन्यास की परिभाषा और तत्त्वों के आधार पर इन तीनों कृतियों के मूल्यांकन का प्रयास होता है। पहली दोनों कृतियों के बारे में यही कहा गया है कि वे पूरी तरह से उपदेश प्रधान हैं और उपन्यास की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं। इसी कारण से रामचंद्र शुक्ल ने 'भाग्यवती' और 'देवरानी जेठानी की कहानी' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास न मानकर 'परीक्षा-गुरु' को प्रथम उपन्यास माना है क्योंकि वह अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास है। हजारी प्रसाद द्विवेदी तो इस झगड़े में ही नहीं पड़े कि कौन पहला है, कौन दूसरा। उन्होंने रामचंद्र शुक्ल की मान्यता का ही अपने साहित्य इतिहास में उल्लेख कर एक तरह से उस मत का समर्थन भी

किया। हालाँकि उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'पूर्ण-प्रकाश और चन्द्रप्रभा' का भी प्रथम सामाजिक उपन्यास के रूप में उल्लेख किया है, पर भारतेन्दु का उपन्यास अधूरा और अनूदित है। इस विवाद को सुलझाने का एक तरीका यह भी है कि इन सभी उपन्यासों को आरम्भिक उपन्यास मान लिया जाये और किसी को पहला या दूसरा बताने के स्थान पर तत्कालीन सामाजिक संदर्भ के बीच रख कर इनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों की चर्चा की जाये।"[1]

हिन्दी के पहले उपन्यास की इस विवादित बहस का एक रचनात्मक समाधान यह भी हो सकता है कि हम किसी एक को पूर्ण पहला उपन्यास घोषित करने के स्थान पर उपन्यास के तत्त्वों की नवीनता को ही उसके पहले होने का आधार माने चाहे वह आंशिक रूप में ही क्यों न हो। इस दृष्टि से उपन्यास की मौलिक पहचान भी पाठक के सामने आ पायेगी और पहले की पहेली भी कुछ हद तक सुलझ जायेगी। पहली बार उपन्यास विधा की प्रमुख पहचान यथार्थवाद, पात्रों व घटनाओं की विश्वसनीयता और नवीनता की दृष्टि से हिन्दी का पहला उपन्यास पं०गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी' (सन् 1870 ई०) को माना जाना चाहिए जो प्रकाशित भी पहले हुआ। स्त्री-शिक्षा के साथ स्त्री स्वावलंबन और स्त्री अधिकारिता के मूल्यों के 'विजन' की दृष्टि से श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' (सन् 1877 ई०) पहले उपन्यास का अधिकार रखता है। लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा-गुरु' (सन्1882 ई०) को शिल्प की दृष्टि से अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक हिन्दी उपन्यास कहा जा सकता है जिसमें पहली बार कथा –कहानी की किस्सागो से आगे उपन्यास के आधुनिक शिल्प को अपनाया गया। इस प्रकार कथ्य की दृष्टि से 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'विजन' की दृष्टि से 'भाग्यवती' और शिल्प की दृष्टि से 'परीक्षा-गुरु' को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जा सकता है।

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 32 -33

3. आरम्भिक हिन्दी उपन्यास : विकास के सोपान

हिन्दी के पहले उपन्यास की बहस से बाहर निकल कर आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के विकास पर दृष्टिपात करें तो मोटे रूप में सन् 1870 ई० से सन् 1900 ई० के बीच हिन्दी उपन्यास की कई प्रवृत्तियां एवं विकास के चरण हमारे सामने आते हैं। मोटे रूप में प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्तियां 1900 ई० तक विकसित हो चुकी थी। हाँ ऐतिहासिक उपन्यासों का विकास 1900 ई. के बाद ही नजर आता है। मेरे शोध का विषय आरम्भिक (सन 1870 ई०) से 1900 ई० तक ही है अत: हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों के विकास को इसी कालक्रम तक ही रख कर समझने का प्रयास किया गया है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के विकास के सोपानों के विवेचन से पूर्व हिन्दी उपन्यासों के प्रेरणा स्रोत और उपन्यास के उद्भव की भारतीय परिस्थितियों को समझे जाने की जरूरत है। हिन्दी उपन्यास सीधे अंग्रेजी उपन्यासों की प्रेरणा से नहीं लिखे गये। अंग्रेजी ढंग का प्रभाव पहले पहल बंगला भाषा से अनूदित रचनाओं में ही आया जो मौलिक नहीं थी बांगला उपन्यास भी पूर्णत अंग्रेजी उपन्यासों की नक़ल थे, यह नहीं कहा जा सकता है। यह माना जा सकता है कि हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के लेखन से पहले अनूदित उपन्यास पाठक तक पहुँच चुके थे। मौलिक उपन्यासों के लेखन के लिए कहीं न कहीं इन अनुवादों ने भी प्रेरणा स्रोत का काम किया, इसे नकारा नहीं जाना चाहिए। आरम्भिक हिन्दी उपन्यास के उद्भव की परिस्थितियाँ और प्रेरक कारण दोनों ही अंग्रेजी उपन्यास के उद्भव से भिन्न रहे हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही हम हिन्दी उपन्यास के विकास का मूल्यांकन सही ढंग से कर सकेंगे। हिन्दी उपन्यास के प्रेरणा स्रोत का निर्धारण सोच समझकर करना पड़ेगा। हिन्दी उपन्यास को अंग्रेजी उपन्यास की नकल या उसकी पृष्ठभूमि को सिर्फ उपनिवेश की देन के रूप में मानने से हिन्दी उपन्यास की जातीय परम्परा की

कड़ी टूट जायेगी जो शायद अंग्रेजी उपन्यास लेखकों को भी प्रभावित कर रही थी। इस तथ्य का उल्लेख नामवर सिंह के लेख की चर्चा के सम्बन्ध में पहले कर चुके हैं।

गोपाल राय ने आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के प्रेरणा स्रोत और परिस्थितियों के उपनिवेशी दावों के भ्रमजाल को अपनी इस टिप्पणी के साथ ख़ारिज किया है - "यदि हम हिन्दी उपन्यास के विकास के आरम्भिक दौर पर सरसरी नजर डालें तो कई आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं। पहला चौंकाने वाला तथ्य यह है कि हिन्दी उपन्यास के उद्भव और विकास में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और मध्यवर्ग की भूमिका बहुत नगण्य है। यूरोपीय उपन्यास के विकास के सम्बन्ध में पूँजीवादी अर्थतंत्र और मध्यवर्ग का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है और अक्सर इस अवधारणा को हिन्दी उपन्यास के इतिहास पर भी चस्पा कर दिया जाता है। पर हिन्दी क्षेत्र की परिस्थितियों को देखते हुए हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध में इस सामान्यीकरण को संगत नहीं माना जा सकता। 1870-90 ई० की अवधि में हिन्दी क्षेत्र में न तो पूँजीवादी अर्थतंत्र का कोई महत्त्व था,न ही कोई मजबूत मध्यवर्ग पैदा हुआ था।"[1]

उपन्यास के विधान की जटिलता और अस्पष्टता के कारण उपन्यास जिस प्रकार आज तक किसी परिभाषा में नहीं बंध पाया है वैसे ही हिन्दी उपन्यास अपनी प्रवृत्तिगत विशेषताएँ लेकर भी अंतर्विरोधों से बाहर नहीं निकल पाया है। प्रेमचंद –पूर्व युग के प्रमुख उपन्यासकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों को 'सामाजिक', 'ऐतिहासिक' तथा 'घटनात्मक' इन तीन वर्गों में रखा था। परन्तु इस विभाजन में भी हिन्दी उपन्यास की बहुत सी विशेषताएं दबी रह जाती हैं जो कुछ उपन्यासों की मूल विशेषता है। जैसे ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न'(1888 ई०) या भुवनेश्वर मिश्र का 'घराऊ घटना' (1893 ई०) ऐसे उपन्यास है जो विशुद्ध प्रेम या रोमांस की

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 64

श्रेणी में आते हैं। 'श्यामास्वप्न' नितांत वैयक्तिक और काल्पनिक प्रेम कहानी है जो हिन्दी उपन्यास के सुधारवादी या मनोरंजन की प्रवृत्ति के सांचे में फिट नहीं बैठता है। इसी प्रकार 'घराऊ घटना' भी प्रेम की शृङ्गारिकता के साथ लोक जीवन की संस्कृति का प्रतिनिधित्त्व करने वाला उपन्यास है। ये उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा निर्देशित प्रवृत्तियों के साँचे से बाहर नजर आते हैं अत: या तो इन उपन्यासों की औपन्यासिकता को ख़ारिज करना पड़ेगा या किशोरीलाल गोस्वामी से आगे रोमांस जैसी गैर-सुधारवादी प्रवृत्ति को आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों में स्वीकार करना पड़ेगा। अध्ययन की सुविधा के लिए रोमांस की प्रवृत्ति को इतिहास और फंतासी के मिश्रण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास का विकास किसी एक धारा में नहीं हुआ है। वह नवजागरण की चेतना लिए अनेक धाराओं में बहकर जनमानस तक पहुँचा और अपने स्वरूप को इन्हीं धाराओं से काटता- संवारता भारतीय उपन्यास बना रहा। हिन्दी उपन्यास में कथ्य, शिल्प और 'विजन' तीनों ही क्षेत्रों में नए प्रयोग हुए हैं। परन्तु इन प्रयोगों का उद्देश्य अपने को अंग्रेजी ढंग का बनाने का न होकर नवजागरण की चेतना को साधने का रहा है। वे अंग्रेजी उपन्यास कला को अपनाते जरूर हैं परन्तु उसका भारतीयकरण करके। वे पश्चिमी मूल्यों को अपनी परिस्थिति और परम्परा की सहूलियत से लेते हैं।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों को हम अध्ययन की सुविधा के लिए तीन रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं। यह वर्गीकरण अपने आप में पूर्णता के दावे के साथ नहीं, सुविधा की दृष्टि से है। हिन्दी उपन्यास को अंग्रेजी ढंग और भारतीय ढंग से वर्गीकृत करके नहीं देखा जाना चाहिए, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अंग्रेजीयत को ही स्वीकार करके उपन्यास की भारतीयता को भूल जाये। हिन्दी उपन्यास उस रूप में आया ही नहीं कि उसे साहित्य की हमारी जातीय परम्परा से अलग करके देखा जा सके। 'परीक्षा गुरु' भले ही अंग्रेजी ढंग का

पहला मौलिक उपन्यास कहा गया हो फिर भी उसे अभारतीय ढंग का उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। अध्ययन की सुविधा के लिए आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है - 1.सुधारवादी उपन्यास 2.मनोरंजन या घटनाप्रधान उपन्यास 3. रोमांस प्रधान उपन्यास ।

1.सुधारवादी उपन्यास

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का प्रमुख स्वर सुधारवादी था। पहले हिन्दी उपन्यास की दौड़ में शामिल तीनों उपन्यासों का वैशिष्ट्य ही सुधारवादी और नवजागरण की संस्कृति की अभिव्यक्ति का है। यद्यपि मनोरंजन और रोमांस प्रधान उपन्यास भी कहीं न कहीं सुधार की मानसिकता को लिए मिल जाते हैं परन्तु वहाँ उनका 'विजन' स्पष्ट नहीं हो पाता है। पाठक भी घटनाओं की चकाचौंध में चक्कर काटता हुआ मनोरंजन के मायाजाल से आगे नहीं बढ़ पाता है। सुधारवादी उपन्यासों की बात करें तो पं० गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी'(1870 ई०), मुंशी ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय का 'वामाशिक्षक' (1872 ई०), श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' (1877 ई०) राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' (1881 ई०, प्रथम प्रकाशन 1890 ई०), लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा-गुरु' (1882 ई०), बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी:एक सह्रदय के हृदय का विकास' (1886 ई०) और 'सौ अजान एक सुजान' (1892 ई०), मेहता लज्जाराम शर्मा का 'धूर्त रसिकलाल' (1899 ई०, और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899 ई.) भुवनेश्वर मिश्र का 'बलवंत भूमिहार' (1896 ई०, प्रथम प्रकाशन सन् 1901 ई०) और अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' या 'देवबाला' (1899 ई०) इत्यादि।

सुधारवादी उपन्यासों में उपन्यास की अनिवार्य शर्त यथार्थवाद और चरित्रों की विश्वसनीयता सुरक्षित रही तथा सुधारवाद पश्चिमी मूल्यों के अनुकरण

और टकराहट दोनों रूपों में रहा। यह सुधारवाद यूरोपीय पुनर्जागरण की तर्ज पर नहीं भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य को लिए था। यही कारण है कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यास उपनिवेशवाद से टकराते हुए भारतीय राष्ट्रवाद का आधार तैयार कर रहे थे। यह भारतीय राष्ट्रवाद का स्वर आगे चलकर प्रेमचंद के उपन्यासों में खुलकर सामने आया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यासों का सुधारवाद सामाजिक सुधार से राष्ट्रीय पुनरुत्थान की ओर बढ़ रहा था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के इसी सुधारवादी प्रवृत्ति पर वैभव सिंह लिखते हैं –"अगर आरम्भिक दौर के चार-पाँच हिन्दी उपन्यासों का विवेचन करें तो हम समाज और साहित्य को विरासत में मिले कई प्रभावों के बारे में बहुत नहीं तो थोड़ी अंतर्दृष्टि अवश्य हासिल कर सकते हैं। पं० गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870 ई०), श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती'(1877 ई०), लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा-गुरु' (1882 ई०) राधाकृष्ण दास का 'नि:सहाय हिन्दू' (1881 ई०) इस समय के प्रमुख उपन्यास थे जिन्होंने कई सामाजिक मुद्दों को उठाया और इनके रचनाकारों ने भी उपन्यास लेखन के लक्ष्य को अपनी सांस्कृतिक चिंताओं से जोड़कर देखा।"[1]

आरम्भिक उपन्यासों में यथार्थवादी समस्या का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने से इनका उपन्यास तत्त्व कमजोर हुआ परन्तु इससे अधिक अपेक्षा करना एक तरह से ज्यादती ही होगी। इन उपन्यासों का सन्तुलित सुधारवाद अपने आप में बड़ी सफलता ही कहा जायेगा। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास मुख्यत: 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती' और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में स्त्री चेतना के नए स्वर सुनाई पड़ते हैं। आरम्भिक तीन उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक' 'भाग्यवती' में स्त्री शिक्षा के माध्यम से समाज के संस्कार की बात की गयी है जिसमें स्त्री का

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 20

पारम्परिक रूप तथा आर्थिक स्वावलंबन दोनों नवीन चेतना के साथ सामने आते हैं। यद्यपि ये उपन्यास स्त्री की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार पुरुष प्रधान समाज में परिवर्तन के नारे को बुलंद करने का प्रयास नहीं करते और न ही स्त्री की हीन दशा के लिए उत्तरदायी पुरुष मानसिकता का खुलकर विरोध करते हैं। स्त्रियों में ही अवगुण बताये गये हैं, एवं उनका निवारण शिक्षा के माध्यम से करने की बात इन उपन्यासों में अधिक उठाई गई है। स्त्री को पुरुष की कुत्सित और वर्चस्ववादी मानसिकता के खिलाफ लड़ने का 'विजन' इन उपन्यासों में नजर नहीं आता। ये उपन्यास सामाजिक कुरीतियों को तो पहचानते हैं परन्तु इन कुरीतियों की असली जड़ पर प्रहार नहीं करते । कभी कभी ऐसा लगता है कि ये उपन्यास पुरुष लेखक द्वारा पुरुष पाठक को मद्देनजर रखते हुए स्त्रियों को दिए गये उपदेश हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा का उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' सनातन धर्म की शिक्षा का प्रचार लगता है। यद्यपि इस उपन्यास ने स्त्री शिक्षा के अंग्रेजी मॉडल की अनुपयोगिता को सबसे पहले पहचाना तथा स्वतंत्रता के नाम पाश्चात्य मूल्यों के विघटनकारी अंधानुकरण से बचने की शिक्षा दी। स्त्री अधिकारिता की जगह इसका सुधारवाद स्त्री बंधनकारी ही बना रहा। यह उपन्यास स्त्रियों को भटकाव से तो बचाता है पर उनके विकास के अटकाव के मूल कारणों तक नहीं पहुँचता। 'परीक्षा-गुरु' भी पश्चिमी संस्कृति के दुष्प्रभावों को सामने लाता है। इसकी नवीनता यह है कि इसमें पहली बार सुधार की आवश्यकता स्त्री की जगह पुरुष के लिए अधिक जरूरी बताई गई है। पुरुष प्रधान समाज को उसकी कमियों का आइना दिखाना इस उपन्यास की बड़ी सफलता है। यही स्वर आगे मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'धूर्त रसिकलाल' में प्रखर रूप में उठाया गया है। इस उपन्यास में पश्चिमी संस्कृति के उन्मुक्त भोग और भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों की टकराहट के बीच सही और गलत को पहचानने का 'विजन' पाठक के सामने रखा गया।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के सुधारवाद की पृष्ठभूमि को एल०आर०शर्मा इस प्रकार देखते हैं –"प्रेमचंद के पूर्व तीस-बत्तीस वर्षों में हिन्दी उपन्यास की जो गतिविधि रही है उसका पर्यवेक्षण करने से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में अनेक दृष्टियों से परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। मध्यवर्गीय उपयोगितावादी नैतिकता का विस्तृत परिचय 'परीक्षा-गुरु' में मिलता है। इस समय के अधिकांश उपन्यासों में 'हितोपदेश', 'रहिमन विलास', चाणक्य, भर्तृहरि, कालिदास, व्यास, हर्ष, शेख सादी, शेक्सपियर आदि की शिक्षा-मूलक सूक्तियां उस समय के लेखकों की मनोवृत्ति को दर्शाती है। पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण की प्रतिक्रिया 'आर्य-समाज' आदि के आन्दोलनों से जब तीव्रतर होने लगी थी, उसी समय हिन्दी उपन्यास का विकास हुआ।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सुधारवाद पश्चिमी मूल्यों के सापेक्ष न होकर भारतीय नवजागरण के अलोक में हुआ। यह उपनिवेशवाद की भेंट को उससे टकराहट के साथ भारतीय जनमानस को सजग और सचेत कर रहा था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सुधारवाद भारतीय नवजागरण की चेतना का परिणाम था, जो उपदेश के रूप में नहीं चरित्र की विश्वसनीयता के साथ उपन्यास की भारतीय पहचान बना। यही सुधारवाद आगे चलकर उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की लेखनी का आधार बना।

2.मनोरंजन या घटनाप्रधान उपन्यास

जिस प्रकार हर सामाजिक उपन्यास में मनोरंजन की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है उसी प्रकार मनोरंजनपरक उपन्यास में भी सुधारवादी प्रवृत्ति को खोजा जा सकता है। हिन्दी भाषा का जितना उद्धार मनोरंजनपरक उपन्यासों

[1] एल०आर०शर्मा, उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री, पृष्ठ 18

ने किया उतना सुधारवादी उपन्यास नहीं कर पाये। रोमांस प्रधान उपन्यास भी एक तरह से मनोरंजनपरक उपन्यासों की ही कड़ी थे। मनोरंजन का एक बड़ा आकर्षण रोमांस था जो 'चन्द्रकान्ता' जैसी रचनाओं की लोकप्रियता का प्रमुख कारण था। 'चन्द्रकान्ता' की प्रसिद्धी में मनोरंजनपरक रोमांस की बहुत बड़ी भूमिका थी। घटना-कौतूहल से वह अपने लिए इतने पाठक नहीं जुटा पाता। मनोरंजन प्रधान उपन्यासों ने हिन्दी के लिए जो पाठक तैयार किये उसके आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' का वैशिष्ट्य हिन्दी के लिए पाठक जुटाने वाले उपन्यास के रूप में स्वीकार किया- "पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे। - - - इनके इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा, रससंचार, भावाविभूतिया और चरित्र-चित्रण नहीं। यह वास्तव में घटनाप्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे यह साहित्य कोटि में नहीं आते । पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और कोई ग्रंथकार नहीं। चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिन्दी सीखी।"[1]

मनोरंजन प्रधान उपन्यासों का 'तिलस्मी-ऐयारी' और 'घटनाप्रधान –जासूसी' जैसे दो उपवर्गीकरण किये जा सकते हैं। तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों के प्रणेता बाबू देवकीनंदन खत्री थे जिन्होंने 'चन्द्रकान्ता' (1888 ई०),चन्द्रकान्ता संतति -24 भाग (1896 ई०), नरेन्द्रमोहिनी (1893 ई०) वीरेंद्रवीर (1895 ई.), कुसुमकुमारी (1899 ई०) भूतनाथ (अधूरा) जैसे उपन्यासों की रचना की। बाबू देवकीनंदन खत्री के बाद इस क्षेत्र में श्री हरेकृष्ण जौहर ने अपना जौहर दिखाया। उन्होंने 'कुसुमलता'(1899 ई०), 'भयानक भ्रम' (1900 ई०)

[1] रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 342

जैसे उपन्यास इस कालखंड में लिखे थे। श्री हरेकृष्ण जौहर आगे भी 'नारीपिशाच' (1901ई०), 'मयंकमोहिनी या मायामहल' (1901ई०), 'जादूगर' (1901 ई०), 'कमल कुमारी' (1902 ई०), 'निराला नकाबपोश' (1902 ई.) तथा 'भयानक खून' (1903 ई.) जैसे तिलिस्मी उपन्यास लिखते रहे। इस कड़ी में किशोरीलाल गोस्वामी 1900 ई० के बाद ही जुड़े उनका तिलिस्मी-ऐयारी परम्परा का उपन्यास 'तिलिस्मी शीशमहल' सन् 1905 ई० में प्रकाशित हुआ। बाबू देवकीनंदन खत्री के पुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री ने अपने पिता की परम्परा को जीवित रखा। उन्होंने अधूरे 'भूतनाथ' को पूरा किया तथा 'रोहतासमठ' नामक मौलिक तिलिस्मी उपन्यास लिखा। आगे भी तिलिस्मी-ऐयारी परम्परा के स्फुट उपन्यास हिन्दी में लिखे जाते रहे।

हिन्दी में घटना-प्रधान जासूसी उपन्यासों के प्रणेता श्री गोपालराम गहमरी थे। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी में सर आर्थरकानन डायल (1859 -1930 ई०) के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। अंग्रेजी के प्रभावस्वरूप बंगला में भी जासूसी उपन्यास लिखे जाने लगे। सन् 1898 ई० में श्री गोपालराम गहमरी ने बंगला से 'हीरे का मोल' उपन्यास अनूदित कर प्रकाशित कराया। जिसे पाठकों ने पसंद किया। इससे उत्साहित होकर गहमरी जी ने 1900 ई० में गहमर से 'जासूस' नामक पत्र निकाला। जिसके लिए आपको निरन्तर जासूसी उपन्यास लिखने पड़े। गहमरी जी ने लगभग 200 जासूसी उपन्यास लिखे। सन् 1900 ई० तक गहमरी जी के 'अद्भुत लाश' (1896 ई०), 'गुप्तचर' (1900 ई०), 'बेक़सूर की फांसी' (1900 ई०), 'सरकटी लाश' (1900 ई०), 'खूनी कौन' (1900 ई०), 'बेगुनाह का खून' (1900 ई०), 'जमुना का खून' (1900 ई०), 'डबल जासूस' (1900 ई०) आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। गहमरी जी की जासूसी उपन्यास लेखनी आगे भी जारी रही। बाद में 'मायाविनी' (1901 ई०), 'चक्करदार चोरी' (1901 ई०), 'जासूस की भूल' (1901 ई०), 'भयंकर चोरी' (1901 ई०), 'जासूस की चोरी' (1902 ई०), 'अद्भुत खून' (1902 ई०), 'जासूस पर जासूसी' (1904 ई०), 'खूनी भेद'

(1910 ई०), 'गुप्त भेद' (1913 ई०), 'जासूस की ऐयारी' (1914 ई०) आदि जासूसी उपन्यास 'जासूस' पत्र में प्रकाशित हुए।

जासूसी उपन्यास भी मनोरंजन परक होते हैं परन्तु तिलिस्मी-ऐयारी से भिन्न होते हैं। तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों की घटना विचित्र और अवास्तविक अधिक लगती है जबकि जासूसी उपन्यासों में घटित होने वाली घटनाएँ जीवन की यथार्थ स्थिति के निकट होती हैं। उनमें कल्पना के साथ बुद्धि का भी योग होता है। रामचंद्र तिवारी जासूसी उपन्यासों की 'टेकनिक' पर लिखते हैं - "जासूसी उपन्यासों में प्राय: चोरी, डकैती, खून, ठगी आदि से सम्बन्धित कोई भयंकर काण्ड घटित हो जाता है। जासूस उसके सुराग में लग जाता है। क्रमश: उसी प्रकार के अन्य काण्ड घटित होते हैं। कथानक उलझ जाता है। अंतत: जासूस की बुद्धि, धैर्य, साहस और कौशल से घटना का रहस्य उद्घाटित होता है। इसी 'टेकनिक' के आधार पर ये उपन्यास लिखे जाते हैं। इन उपन्यासों का उद्देश्य भी हल्के ढंग का मनोरंजन ही है। उद्देश्य की दृष्टि से तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों के निकट होते हुए भी ये उपन्यास उनसे भिन्न कोटि के होते हैं।"[1]

गोपालराम गहमरी ने अपने जासूसी उपन्यासों में एक प्रकार का नैतिक दृष्टिकोण बनाए रखा है। सदाचारी पात्रों के जीवन का अंतिम परिणाम शुभ दिखाकर तत्कालीन युग की आदर्शवादी मनोवृत्ति के साथ अपना तादात्म्य दिखाया है। इसी कारण गहमरी जी को हिन्दी का 'आर्थरकानन डायल' कहा जाता है। जासूसी उपन्यासों की परम्परा को जीवित रखने में रामलाल वर्मा और किशोरीलाल गोस्वामी का योगदान भी अपना महत्त्व रखता है। यद्यपि इन्हें गोपालराम गहमरी जैसी सफलता नहीं मिली। रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता', 'अस्सी हजार की चोरी' आदि उपन्यास लिखे। इसी कड़ी में किशोरीलाल गोस्वामी का 'जिन्दे की

[1] रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ 158

लाश', जयरामदास गुप्त का 'लंगड़ा खूनी', रामप्रसाद लाल का 'हम्माम का मुर्दा' आदि जासूसी उपन्यास भी प्रकाशित हुए।

मनोरंजन या घटना प्रधान उपन्यास भले ही आचार्य शुक्ल की दृष्टि में असाहित्यिक हो, पर हिन्दी उपन्यास के आरंभ में उपन्यास की भारतीय पहचान स्थापित करने में इनकी बड़ी भूमिका थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इन उपन्यासों का रहस्यात्मक घटना विधान खटकता था जिसके प्रति उनका अपना एक साफ दृष्टिकोण था। फिर भी रहस्य से बाहर निकल कर देखें तो 'चन्द्रकान्ता' जैसे उपन्यास मनोरंजन के साथ पाठक को मर्यादा का पाठ भी पढ़ा रहे थे। प्रेम का एक सात्त्विक रूप में इन उपन्यासों में देखने को मिलता है। इनकी सबसे बड़ी कमी यह थी ये पाठक के मनोरंजन को सामाजिक 'विजन' के साथ नहीं जोड़ पाये। यदि ऐसा होता तो इनकी उपादेयता बढ़ जाती। सही और गलत के बीच नैतिक कायदे इन उपन्यासों में सदैव बने रहे। पाठक इनको पढ़कर कुत्सित वृत्ति का शिकार नहीं हुआ। उसका मनोरंजन रहस्य-रोमांच के साथ बना रहा।

मनोरंजन परक उपन्यास यथार्थवादी तो नहीं बन पाये पर इन्हें असामाजिक भी नहीं कहा जा सकता है। वे आदर्श साहित्य तो नहीं पर अश्लील साहित्य भी नहीं। मनोरंजन के माध्यम से पाठक जुटाना कोई छोटा काम नहीं था, वह भी सामाजिक मर्यादाओं के साथ। मनोरंजन परक उपन्यासों की नैतिकता और मर्यादाओं को ध्यान में रख कर इनका नया मूल्यांकन होना चाहिए।

3. रोमांस-प्रधान उपन्यास

देवकीनंदन खत्री के मनोरंजन परक उपन्यास 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' अपने रोमांस प्रसंगों के कारण ही पाठकों के प्रिय बने। उनका रोमांस तिलिस्मी- ऐयारी के रहस्य रोमांच की घटना भर बन कर रह गया। वहाँ वह

रहस्य अधिक और रोमांस कम लगता लगता है। पाठक प्रेम प्रसंग से अधिक घटना औत्सुक्य में ही खोया रह जाता है। यही कारण है कि उनका रोमांस अयथार्थवादी और अलौकिक सा लगने लगता है। तिलिस्मी- ऐयारी के रहस्य से अलग स्वप्निल प्रेम की कहानी ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामास्वप्न' उपन्यास के रूप में लिखी। राय के अनुसार 'श्यामास्वप्न' की रचना गोपाल सन् 1885 ई० तथा उसका प्रथम प्रकाशन सन् 1888 ई० में हुआ। उपन्यासकार ने इसे 'गद्य प्रधान चार खण्डों में एक कल्पना' कहा है। ग्रंथकेतन दिल्ली से छपे संस्करण, 2009 ई० के सम्पादकीय लेख 'अपनी बात' में डॉ० देवेन्द्र कुमार सिंह ने इसे भारतीय ढंग का पहला उपन्यास कहा है - "श्यामास्वप्न उपन्यास ठाकुर जगमोहन सिंह की कीर्ति का स्थायी स्तम्भ है। हिन्दी में अपने ढंग का यह अनूठा उपन्यास है। हिन्दी के प्राम्भिक उपन्यासों की जब भी बात की जायेगी इस उपन्यास की चर्चा करना अनिवार्य होगा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'परीक्षा गुरु' को हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास कहा है। यदि 'परीक्षा गुरु' अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास है तो निस्संदेह 'श्यामास्वप्न' भारतीय ढंग का पहला उपन्यास है।"[1] देवेन्द्र कुमार सिंह ने शायद सम्पादकीय मोह में कहने भर के लिए अपनी बात कह दी और अम्बिकादत्त व्यास के उपन्यास को गद्य काव्य कहने और उपन्यासकार द्वारा अपनी रचना को 'गद्य प्रधान चार खण्डों में एक कल्पना' कहने के मेल को ही इसे भारतीय ढंग का पहला उपन्यास होने के लिए पर्याप्त समझ लिया। आगे स्वयं यह कह देते हैं कि "ऊपर कही हुई तमाम बातों के संदर्भ में आप खुद निर्णय लीजिए।"[2]

'श्यामास्वप्न' एक काव्यात्मक उपन्यास है जिसमें कथाकार का कवि मन प्रेमाख्यानों जैसी कल्पना का सहारा लेता हुआ प्रेम का चित्रण करता है। गोपाल राय ने लिखा है – "इस उपन्यास का विशेष महत्त्व इसके शिल्प को

[1] देवेन्द्र कुमार सिंह, 'श्यामा स्वप्न' भूमिका
[2] वही

लेकर है। इसका कथा नायक रात्रि के चार प्रहरों में चार स्वप्न देखता है, जो मिलकर एक प्रेम कथा का रूप ग्रहण करते हैं। स्वप्न की अनेक असंगत बातों के बीच से कथा नायक श्यामसुंदर और कथा नायिका श्यामा की प्रेम कथा कुछ स्पष्ट होकर सामने आती है जो प्रेमाख्यानों के अधिक निकट है। इसमें प्राचीन प्रेमाख्यानों की तरह उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति के अलंकृत वर्णन, नायिका के नख-शिख सौन्दर्य वर्णन तथा प्रेमी प्रेमिका के आलिंगन, चुम्बन, रतिक्रीड़ा और उनके विरह मिलन के काव्यात्मक वर्णनों की प्रधानता है।"[1] रोमांस की दृष्टि से 'श्यामास्वप्न', 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' से इस आधार पर विशेष महत्त्व रखता है कि इसमें प्रेम की कथा भले ही स्वप्न की उपज हो परन्तु उपन्यासकार ने इसे रहस्य की रोमानी कथा नहीं बनने दिया। उपन्यास गद्य-काव्य के रूप में लिखा गया है जो उपन्यास की मूल परिभाषा में फिट तो नहीं बैठता परन्तु प्रकृति का सहज स्वभाविक चित्रण उपन्यास की यथार्थवादिता को साधने में सफल रहा है। उपन्यास में वैचारिकता न बराबर है पर प्रेम की शृङ्गारिकता प्रभावित करती है। 'श्यामास्वप्न' के महत्त्व का एक कारण यह भी है कि इससे हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकारों के द्वारा इस क्षेत्र में हो रहे नवीन प्रयोगों की जानकारी मिलती है। यह प्रयोग अंग्रेजी उपन्यास की परम्परा से भिन्न थे। 'श्यामास्वप्न' उपन्यास की भारतीय अवधारणा का एक सशक्त उदहारण प्रस्तुत करता है।

रोमांस परक उपन्यासों में 'श्यामास्वप्न' के बाद भुवनेश्वर मिश्र का 'घराऊ घटना' (सन् 1893 ई०) उपन्यास का स्थान आता है। लोकजीवन की आँचलिक संस्कृति का चित्रण करने वाला 'घराऊ घटना' हिन्दी का पहला उपन्यास है। इसमें मध्यवर्ग के एक सामान्य गृहस्थ के दैनंदिन जीवन का, उसके सूक्ष्म ब्योरों के साथ, विश्वसनीय और रोचक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। अपने समय की रोमानी कथाओं वाले उपन्यासों की तरह इसमें

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 61

अतिलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं, तिलिस्म-ऐयारी के करिश्मों तथा रोमांचक अपराध प्रधान घटनाओं का वर्णन नहीं है। यह जीवन की साधारण बातों का मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन की समस्याओं, सामाजिक रीतिरिवाजों और समकालीन सोच का अत्यंत यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। 'घराऊ घटना' में कौतूहलपरक घटनाओं का बहिष्कार और शृङ्गार का यथार्थपरक चित्रण अपने समय की दृष्टि से खास महत्त्व रखता है। जब पाठक घटनाओं के कौतूहल में डूबा था। अपने उपन्यासों के लिए पाठक जुटाने में उपन्यासकारों को कौतूहल जनक, घटना प्रधान उपन्यास लेखन ही सफलता का आधार नजर आ रहा था। ऐसे समय में भुवनेश्वर मिश्र का यह उपन्यास लोकजीवन का खांटी यथार्थ लेकर सामने आया। गोपाल राय ने माना है कि " यह पहला हिन्दी उपन्यास है जिसमें आँचलिकता का इतना गाढ़ा रंग है। तत्कालीन समाज के रीतिरिवाजों और विचारों-मान्यताओं का जैसा विश्वासोत्पादक वर्णन इस उपन्यास में उपलब्ध है वह पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासों में दुर्लभ है। इस दृष्टि से यह हिन्दी का पहला 'रीतिरिवाजों का उपन्यास' (नॉवेल ऑफ़ मैनर्स) कहा जा सकता है।"[1]

भुवनेश्वर मिश्र का 'घराऊ घटना' सामाजिक जीवन के 'राग और विराग' दोनों का ही यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें दाम्पत्य जीवन की कामक्रीड़ा के दृश्य भी है तो उसकी दैनिक समस्याओं का वर्णन भी। तत्कालीन समाज का ऐसा वर्णन अपने आप में खास महत्त्व रखता है। जीवन के प्रसंगों का ब्योरेवार वर्णन जैसे बेटे के विवाह के लिए माँ की बैचेनी, विवाह के समय वर द्वारा कन्या को देखने की मनाही, युवकों का माता-पिता और गुरुजनों से छिपकर तम्बाकू सेवन, विवाह के दो-तीन वर्ष के भीतर संतान नहीं होने पर माँ-बाप की चिंता तथा संतान प्राप्ति के लिए जादू-टोना, जड़ी-बूटी, साधु-संत, पूजा-पाठ, ओझा-बैद आदि की शरण लेने का चित्रण

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 108

बहुत ही स्वाभाविक रूप में किया गया है। स्त्रियाँ अपने पति को गहनों के लिए किस प्रकार परेशान करती थी, पति से पैसे ऐंठने के लिए किस प्रकार के हथकंडों का इस्तेमाल करती थी, अपढ़ स्त्रियाँ लेखक पति के जीवन को कितना मुश्किल बना देती थी जैसी दैनिक जीवन की साधारण बातें बड़े सजीव रूप में इस उपन्यास में देखने को मिलती है। उपन्यासकार मध्यवर्गीय समाज की आँचलिक संस्कृति का कोना- कोना झांक आया। इस उपन्यास की भाषा आँचलिकता का गाढ़ा रंग लिए व उसके माधुर्य से सराबोर है। यह हिन्दी का रीतिरिवाजों और आँचलिक जीवन के यथार्थ को चित्रित करने वाला पहला उपन्यास तो है ही, साथ ही पूर्ण गद्य में लिखा हिन्दी का पहला आत्मकथात्मक उपन्यास भी।

इस प्रकार हिन्दी का आरम्भिक उपन्यास साहित्य अपनी विधागत जटिलता और अस्पष्टता के बीच भी उपन्यास की भारतीयता और नवजागरण की संस्कृति का प्रसारक साहित्यिक माध्यम बना रहा। उपन्यास के अंग्रेजी ढांचे और भारतीय विधान को साथ लिए हिन्दी उपन्यास अनेक पड़ावों से गुजरता हुआ अपनी वर्तमान दशा तक पहुँचा है। साहित्य की सामाजिकता और यथार्थवादी सोच की दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यास उस मजबूत आधार का काम करते हैं, जिस पर आगे चलकर हिन्दी उपन्यास का विराट साहित्यिक भवन खड़ा हुआ। अत: हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों का मूल्यांकन पाश्चात्य मानदण्डों के साथ-साथ उपन्यास की भारतीय परम्परा के आलोक में किया जाना चाहिए।

तीसरा अध्याय

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का सैद्धांतिक पक्ष

1- समाजसुधार
2- मनोरंजन
3- उपदेश
4- इतिहास और फंतासी
5- यथार्थ

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का सैद्धांतिक पक्ष

हिन्दी उपन्यास विधा की शुरुआत और स्वरूप आज भी विवादास्पद है फिर भी मोटे रूप में अन्य गद्य विधाओं के उद्भव की तरह उपन्यास के संदर्भ में भी माना जा सकता है कि भारतेन्दु युग में हिन्दी इसका का श्रीगणेश हुआ। हिन्दी उपन्यास अपने आरम्भ से ही सामाजिक सरोकारों से जुड़ता हुआ अनवरत गति से मनोरंजन के साथ सामाजिक बदलाव का एक सशक्त साहित्यिक माध्यम बना हुआ है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों को किसी एक सांचे में नहीं ढाला जा सकता परन्तु इनके सामाजिक सरोकारों की महत्ता उपन्यास के प्रत्येक स्वरूप में अधिक प्रशंसनीय रही है।

उपन्यास विधा का आरम्भिक स्वरूप सामाजिक-धार्मिक पुनर्जागरण के प्रभाव से सुधारात्मक अधिक रहा है। जिससे कारण इसका साहित्यक स्वरूप कहीं कहीं कमजोर भी नजर आता है, फिर भी समाज से जुड़ाव और बदलाव में अपनी भूमिका के लिए हिन्दी उपन्यास दूसरी विधाओं से अधिक प्रभावकारी व अधिक फलदायी है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों को संबंध में रामचंद्र तिवारी इस प्रकार वर्गीकृत करते हैं, "वस्तुतः प्रेमचंद पूर्व युग में हमारी साहित्य चेतना दो प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचालित थी। एक प्रवृत्ति मनोरंजन की थी, दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐयारी तिलिस्मी, जासूसी एवं चित्र विचित्र रहस्यमय वासना-परक प्रणय चित्रों से युक्त दोनों ही प्रकार के उपन्यास मनोरंजन की प्रवृत्ति से ही परिचालित थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास –जिनमें औपन्यासिक शैली में इतिहास के सत्य का अनुसंधान और प्रकाशन लक्ष्य होता है - इस युग में बहुत ही कम लिखे गये। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालित उपन्यास उपदेश प्रधान और

सुधारवादी थे - - - इस प्रकार यदि हम उपन्यासों की रचना के मूल में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण करें तो समूचा उपन्यास साहित्य प्रमुखत: दो वर्गों में सीमित हो सकता है – मनोरंजन प्रधान तथा सामाजिक चेतना से युक्त।"[1] यद्यपि स्वयं डॉ० तिवारी भी अपने वर्गीकरण से पूरी तरह सहमत नहीं लगते - "किन्तु यह वर्गीकरण उस युग की मन:स्थिति को समझने में सहायक होते हुए भी कृतियों के विवेचन के लिए सुविधाजनक नहीं है। मनोरंजन का तत्त्व न्यूनाधिक हर युग के कथा साहित्य का प्रेरक होता है। प्रेमचंद-पूर्व के सामाजिक जागरण से प्रेरित उपन्यास भी मनोरंजन के तत्त्व से सर्वथा रहित नहीं है इसलिए विषय की दृष्टि से किया गया श्री किशोरीलाल गोस्वामी का वर्गीकरण ही अध्ययन के लिए अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है।"[2] यहाँ इस बात का जिक्र करना जरूरी है कि श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों को सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक तीन वर्गों में रखा था। यह विवेचन सिद्ध करता है कि हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति किसी एक प्रवाह के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती है, हिन्दी उपन्यास सामाजिक बदलावों के चित्रण के साथ ही बदलावों का एक सशक्त माध्यम भी बना है।

हिन्दी उपन्यास का सैद्धांतिक विवेचन करते हुए भी हमें इसके व्यावहारिक पक्ष को भी महत्त्व देना चाहिए। इसके अभाव में हम उपन्यास के मूल से दूर हो जायेंगे, जो उसके लोकतान्त्रिक स्वरूप का सबसे बड़ा प्रमाण है और जिसके कारण बराबर उन्नति करती हुई उपन्यास विधा समकालीन हिन्दी साहित्य की महत्तवपूर्ण गद्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई ।

सन् 1877 में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस उपन्यास की काफी प्रशंसा की है। यह

[1] रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ 147
[2] वही

भले ही अंग्रेज़ी ढंग का मौलिक उपन्यास न हो किन्तु विषयवस्तु की नवीनता के आधार पर इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास कहा जाता है। इसमें उस समय के हिन्दू समाज की अनेक कुरीतियों का आलोचनात्मक एवं यथार्थवादी रीति से चित्रण हुआ है और स्त्रियों के लिए अनेक सदुपदेश दिए गए हैं।

भारतेन्दु युगीन उपन्यासकारों में लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरु' का प्रकाशन 1882 ई० में हुआ था। 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना 1877 ई० में हुई और उसका प्रकाशन उसके रचना-काल के दस वर्ष बाद सन् 1887 में हुआ। गोपाल राय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए हिन्दी उपन्यास को मध्यवर्ग की अभिव्यक्ति से जोड़ कर देखा है। उपन्यास को यथार्थ के अधिक नजदीक रखने के कारण ही गोपाल राय को 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास विधा के अधिक अनुकूल लगता है - "रानी केतकी की कहानी (1803 ई०) से देवरानी जेठानी की कहानी (1870 ई०)की कथा यात्रा क्रमिक विकास के रूप में नहीं बल्कि एक छलांग के रूप में दिखाई पड़ती है - - - दोनों पुस्तकों के शीर्षकों में 'कहानी' शब्द है, पर एक में रानी की कहानी है और दूसरे में एक साधारण परिवार की स्त्रियों 'सुखदेई' और 'ज्ञानो' की। राजप्रासाद से सामान्य गृहस्थ के आंगन तक कहानी की यह छलांग अभूतपूर्व कही जा सकती है।"[1]

अध्ययन की सुविधा व विकास के क्रम को समझने के लिए इस युग के उपन्यासों को हम पांच श्रेणियों में बांट सकते हैं जो किसी सिद्धान्त से अधिक उपन्यास के व्यावहारिक और समाज-सापेक्ष रूप को ही अधिक सामने लाता है -

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 24-25

1- सामाजिक उपन्यास, 2तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास, 3- जासूसी उपन्यास, 4- ऐतिहासिक उपन्यास 5- भावप्रधान उपन्यास

सामाजिक उपन्यासों के संदर्भ में बात करें तो पाते हैं कि यह काल राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना की दृष्टि से जागृति एवं सुधार का काल था। सामाजिक समस्याओं और परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर साहित्य रचना करने वाले दो प्रकार के साहित्यकार थे – प्रथम वर्ग तो नवीन शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, सुधार-आन्दोलन के प्रकाश में धार्मिक बाह्याडम्बरों एवं सामाजिक विकृतियों को समाप्त करके अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता था। इस वर्ग में श्रद्धाराम फिल्लौरी (भाग्यवती), लाला श्रीनिवास दास (परीक्षा गुरु), बालकृष्ण भट्ट (नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान), लोचन प्रसाद पाण्डेय (दो मित्र), लज्जाराम मेहता (धूर्त रसिकलाल, हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पत्ति, बिगड़े का सुधार और आदर्श हिन्दू) का नाम उल्लेखनीय है। दूसरे वर्ग के लेखक सनातनी परम्परा से जुड़े हुए थे। वे आर्य समाज आदि के द्वारा किये जाने वाले सुधारों के विरोधी थे। इस वर्ग में गोपालराम गहमरी (चतुर चंचला, भानमती, नए बाबू, बड़ा भाई, देवरानी जेठानी, दो बहिन, तीन पतोहू, डबल बीबी, सास-पतोहू) और किशोरी लाल गोस्वामी (अंगूठी का नगीना) के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य उपन्यास लेखकों में हनुमंत सिंह, देवी प्रसाद शर्मा, राधाचंद गोस्वामी, कार्तिक प्रसाद खत्री, देवकी नंदन खत्री, गोकुल नाथ शर्मा तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय (ठेठ हिन्दी का ठाट, अधखिला फूल) आदि प्रमुख हैं।

सामाजिक उपन्यासों के बीच रोमांस वाले ऐसे उपन्यासों की भी रचना हुई है जिनमें रीतिकालीन नायिका भेद वाले विलासात्मक प्रेम को प्रधानता दी गई है। कुछ उपन्यासों में उर्दू उपन्यासों की शोखी, शरारत और चुहल दिखाई पड़ती है। 'अंगूठी का नगीना' (किशोरी लाल गोस्वामी), 'प्रणयी माधव'

(मोटेश्वर पोतदार), 'शीला' (हरिप्रसाद जिंजल), 'श्यामा स्वप्न' (ठाकुर जगमोहन सिंह) आदि रोमांस-प्रधान उपन्यास हैं।

उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले इस युग के सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं किशोरीलाल गोस्वामी। उन्होंने सामाजिक ऐतिहासिक उपन्यासों का श्रीगणेश किया। उनके उपन्यासों की संख्या 75 बताई जाती है। विचार सनातन हिन्दू धर्म के अनुकूल हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र चित्रण भी पाया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है - "साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।"[1] इनके सामाजिक उपन्यासों में 'लवंगलता', 'हृदयहारिणी', 'हीराबाई', 'तरुणतपस्विनी', 'त्रिवेणी व सौभाग्य श्रेणी', 'लीलावती व आदर्श सती', 'राजकुमारी', 'चपला व नव्य समाज' आदि उल्लेखनीय हैं। गोस्वामी जी के प्रायः सभी उपन्यास स्त्री पात्र-प्रधान हैं और उनमें प्रेम के विविध रूपों का चित्रण हुआ है। उन्होंने एक ओर यदि सती-साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है तो दूसरी ओर साली-बहनोई के अवैध-प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन आदि का भी सजीव वर्णन किया है। समाज में हो रहे परिवर्तन को इन्होंने संदेह की नज़र से देखा है। उनके सभी उपन्यास पर-स्त्री और पर-पुरुष के मिलन प्रसंग पर आधारित हैं। आचार्य शुक्ल का मत है- "उनमें उच्च वासनाएं व्यक्त करनेवाले दृश्यों की अपेक्षा निम्नकोटि की वासनाएं प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी।"[2] ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए सहृदयता, निष्पक्षता, उदारता, पुरातत्त्व और ऐतिहासिक तथ्यों की पूरी तरह से हत्या करके गोस्वामी जी ने अपने पात्रों का नैतिक पतन कर दिया। भाषा के साथ किए गए मज़ाक के कारण उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।

---

[1] रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 343

[2] वही

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में एक ख़ास तरह की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। किसी उपन्यासकार का मूल ध्येय उपन्यास के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार करना और उसके उपचार के मार्ग सुझाना है तो किसी उपन्यासकार का मूल ध्येय पाठक का मनोरंजन करना है। कुछ उपन्यास इस हद तक दुरूह हो गए हैं कि वे उपन्यास कम और किसी उपदेशक के प्रवचन ज्यादा प्रतीत होते हैं। जबकि कुछ ऐसे भी उपन्यास हैं जो समाज सुधार और उपदेश दोनों ही प्रयोजनों को सफलतापूर्वक साधते हैं।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का फलक समाजसुधार, मनोरंजन और उपदेश तक ही सीमित नहीं है। वह समय उपन्यास विधा के आरम्भ का था फिर भी उस समय के उपन्यासकारों ने इस विधा में कई तरह के प्रयोग किये हैं। उस समय के उपन्यासों में कुछ ऐसे उपन्यास भी मिलते हैं जो कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को केंद्र में रखकर लिखे गए और कुछ ऐसे उपन्यास भी हैं जो पूरी तरह फंतासी गढ़ते हैं। इतिहास और फंतासी जैसी प्रवृत्तियों वाले उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल में कुछ ऐसे उपन्यास भी रचे गए जो यथार्थ के धरातल पर अवलंबित हैं। उनमें न तो कल्पना की उड़ान है और न ही इतिहास की प्राचीन जमीन। यथार्थ के धरातल पर रचे उपन्यास शुरूआती दौर के उपन्यासों में ज्यादा महत्त्व के उपन्यास हैं। इन उपन्यासों के माध्यम से हमें समकालीन समाज और विश्व की विश्वसनीय झलक मिलती है, जो ज्यादा उपयोगी है।

सामाजिक सरोकारों को ध्यान में रखकर लिखने वाले उपन्यासकारों की बात की जाए तो किशोरीलाल गोस्वामी का नाम प्रमुखता से आता है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में उनने समकालीन उपन्यासकारों की की तुलना सामाजिकता का तत्व अधिक है। वे अपने उपन्यासों में केवल मनोरंजन के निमित्त तिलिस्मी या ऐयारी जैसे विषयों को ही नहीं चुनते बल्कि सामाजिक जीवन के वास्तविक पक्ष भी चित्रण करते हैं। इसका यह

अर्थ नहीं है कि वे अपने उपन्यासों के माध्यम से पाठक का मनोरंजन करने में असफल रहते हैं या उनके उपन्यासों में उपन्यास की स्वाभाविक सरसता की जगह उपदेश की नीरसता है। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने पाठकों के मनोरंजन के निमित्त घटना वैचित्र्य द्वारा रस निष्पत्ति का सफल प्रयोग किया है। उनके उपन्यासों में निहित ये विशेषताएं जहाँ एक ओर वास्तविक समाज और उसके असली सरोकारों से जोड़ती हैं वहीं दूसरी ओर पाठकों का मनोरंजन भी करती हैं। इसी काल खंड में कुछ उपन्यासकार महज मनोरंजन के लिए ही लिख रहे थे। उनका मूल ध्येय मनोरंजन करना था। इस क्रम में यदि कुछ अच्छी या समाजोपयोगी बातें उपन्यास में आ जायें तो अलग बात है। इस श्रेणी के उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री का नाम लिया जा सकता है।

कुछ उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार किया है। ऐसे उपन्यास किसी उपदेशक के उपदेश ग्रन्थ से प्रतीत होते हैं। इस सुधारात्मक-यथार्थवाद की दृष्टि से मेहता लज्जाराम शर्मा विशेष महत्त्व रखते हैं जो सामाजिक यथार्थ को नई अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

1- समाजसुधार

समाजसुधार की भावना वह पहला तत्त्व था जिससे प्रेरित होकर आरम्भिक उपन्यासकारों ने रचना की है। इस बात की स्वीकारोक्ति उस समय के उपन्यासों की भूमिका में देखने को मिलती है। हिन्दी के पहले उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) की भूमिका में पं० गौरीदत्त लिखते हैं- "स्त्रियों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गयी हैं सब अपने-अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं, परन्तु मैंने इस कहानी को नये रंग-ढंग से लिखा है। मुझको निश्चय है कि दोनों, स्त्री-पुरुष इसको पढ़कर अति प्रसन्न होंगे और बहुत लाभ उठायेंगे। जब मुझको यह निश्चय हुआ कि स्त्री, स्त्रियों की बोली, और पुरुष, पुरुषों की बोली पसन्द करते हैं जो कोई स्त्री पुरुषों की बोली, वा पुरुष स्त्रियों की बोली बोलता है उसको नाम धरते हैं। इस कारण मैंने पुस्तक में स्त्रियों ही की बोल-चाल और वही शब्द जहाँ जैसा आशय है, लिखे हैं और यह वह बोली है जो इस जिले के बनियों के कुटुम्ब में स्त्री-पुरुष वा लड़के-बाले बोलते-चालते हैं। संस्कृत के बहुत शब्द जो और पुस्तकों में लिखे जाते हैं इसलिए नहीं लिखे कि न कोई चित से पढ़ता है, और न सुनता है। इस पुस्तक में यह भी दर्शा दिया है कि इस देश के बनिये जन्म-मरण विवाहादि में क्या-क्या करते हैं, पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या-क्या अन्तर है, बालकों का पालन और पोषण किस प्रकार होता है, और किस प्रकार होना चाहिए, स्त्रियों का समय किस-किस काम में व्यतीत होता है, और क्यों कर होना उचित है। बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है, उसमें क्या-क्या हानि होती है। पढ़ी हुई जब उसी काम को करती है उससे क्या-क्या लाभ होता है। स्त्रियों की वह बातें जो आजतक नहीं लिखी गयीं मैंने खोज कर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक-ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है। बाल बराबर भी अंतर नहीं है"।[1] पं० गौरीदत्त की अपनी

[1] पंडित गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, -भूमिका

उपन्यास विषयक अवधारणा में स्त्री शिक्षा और समाज सुधार की ध्वनि स्पष्ट रूप से मुखरित हो रही है। इस उपन्यास की कुछ ख़ास खास खूबियों की बात की जाय तो यह कहा जा सकता है कि इसकी अन्तर्वस्तु इतनी सामाजिक है कि इसमें तत्कालीन पूरा समाज ही ध्वनित होता है। मसलन बाल विवाह, विवाह में फिजूलखर्ची, स्त्रियों की आभूषणप्रियता, बंटवारा, वृद्धों, बहुओं की समस्या, शिक्षा, स्त्री-शिक्षा अपनी अनगढ़ ईमानदारी में उपन्यास कहीं भी चूकता नहीं। लोकजीवन संपृक्त भाषा इतनी जीवन्त है कि आज के साहित्यकारों को भी दिशा-निर्देशित करती है। दृष्टि का यह हाल है कि इस उपन्यास के माध्यम से हिन्दी पट्टी में नवजागरण की पहली आहट तक को सुना जा सकता है।

प्रारम्भिक उपन्यासों के रचनाक्रम में 'वामाशिक्षक' के लिखे जाने की कहानी 'देवरानी जेठानी की कहानी' लिखे जाने से भिन्न नहीं है। 'मिरातुल उरुस'(वधू दर्पण) की प्रेरणा लेकर ही मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने 'वामाशिक्षक'(1872 ई०) उपन्यास लिखा। इसकी भूमिका में वे लिखते हैं "इन दिनों मुसलमानों की लड़कियों को पढ़ने के लिए तो एक दो पुस्तकें जैसे 'मिरातुल उरुस' आदि बन गई हैं परंतु हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों के लिए अब तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई जिससे उनको जैसा चाहिए वैसा लाभ पहुँचे और पश्चिम देशाधिकारी श्रीमन्महाराजाधिराज लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर की यह इच्छा है कि कोई पुस्तक ऐसी बनाई जाय जिससे हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों को भी लाभ पहुँचे और उनकी शासना भी भली-भाँति हो।"[1]

'भाग्यवती' पण्डित श्रद्धाराम 'फिल्लौरी' द्वारा रचित उपन्यास है। इसकी रचना सन् 1877 में हुई थी। सन् 1887 ई. में यह प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में उन्होंने काशी के एक पंडित उमादत्त की बेटी भाग्यवती के चरित्र

[1] मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक, भूमिका

के माध्यम से बाल विवाह पर ज़बर्दस्त चोट की। उपन्यास में उन्होंने भारतीय स्त्री की दशा और उसके अधिकारों को लेकर क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से यह हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसमें स्त्री स्वावलंबन की बात की गई है। औपन्यासिकता की दृष्टि से भले ही यह रचना उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, लेकिन समाज सुधार के लिए इस उपन्यास को हमेशा याद किया जाता रहा है। फिल्लौरी जी ने 'भाग्यवती' की भूमिका में लिखा है- "ऐसी 'पोथी' लिखने की इच्छा है जिसके पढ़ने से भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।"[1] फिल्लौरी जी हिन्दू स्त्रियों की पिछड़ी दशा से बहुत चिन्तित होकर लिखते हैं "यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी होती तो हैं परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बात व्यवहार की पूरी वृद्धि नहीं हो पाती और कई बार ऐसा भी देखने में आया है कि जब कभी उनको विदेश जाने का मौका मिलता है तो वे अपना गहना, कपड़ा, बर्तन आदि पदार्थ खो बैठती और घर में बैठती तो किसी ढोंगी पुरुष के हाथ से अपने घर का नाश कर बैठती है। फिर यह भी देखा जाता है कि बहुत स्त्रियाँ अपनी देवरानियों, जेठानियों से आठों पहर लड़ाई रखती है शिक्षा के अभाव में।"[2]

'देवरानी जेठानी की कहानी' में भी अशिक्षा के कारण मध्यवर्गीय परिवारों की स्त्रियों की दीन-दशा का चित्रण किया गया है पर भाग्यवती में इसका अधिक विस्तार से वर्णन हुआ है। वस्तुतः स्त्री-शिक्षा ही 'भाग्यवती' उपन्यास के केन्द्र में है। यह उपन्यास स्त्रियों में जागृति लाने के उद्देश्य से लिखा गया था। इस उपन्यास की मुख्य पात्र स्त्री है। इसमें स्त्रियों के प्रगतिशील रूप का चित्रण है एवं उनके अधिकारों एवं स्थिति की बात की गई है। उस जमाने में इस उपन्यास में विधवा विवाह का पक्ष लिया गया है; बालविवाह की निन्दा की गयी है; लड़के और लड़की में समानता की बात की गयी है। उपन्यास की

[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती- भूमिका
[2] वही

नायिका भाग्यवती की बेटी पैदा होने पर समाज द्वारा मजाक उड़ाए जाने पर वह लड़के और लड़की में कोई फर्क नहीं मानने की खुल कर कहती है। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' उपन्यास में लड़कियों को पढ़ाने की वकालत तब की जब लड़कियों को घर से बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। परंपराओं, कुप्रथाओं और रूढ़ियों पर चोट करते रहने के बावजूद वे लोगों के बीच लोकप्रिय बने रहे। जबकि वह ऐसा दौर था जब कोई व्यक्ति अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों के खिलाफ कुछ बोलता था तो पूरा समाज उसके खिलाफ हो जाता था। निश्चय ही उनके अंदर अपनी बात को कहने का साहस और उसे लोगों तक पहुँचाने की जबर्दस्त क्षमता थी।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के समाजसुधार के स्वर का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष नवजागरण का प्रभाव माना जाता है। नवजागरण का शाब्दिक अर्थ है- नई चेतना अर्थात एक ऐसी चेतना जो पूर्व कभी इतिहास में नहीं आई हो। नवजागरण युग की परिस्थितियाँ पहले से गुणात्मक रूप में एकदम भिन्न होती है। नवजागरण शब्द का हिन्दी में पहली बार प्रयोग करने का श्रेय प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा को जाता है जिन्होंने 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में नवजागरण शब्द की संकल्पना प्रस्तुत की, यह शब्द उन्होंने अंग्रेजी शब्द 'रेनेसां' के पर्याय में प्रयुक्त किया है। वे 14वीं-15वीं सदी के रेनेसां से 19वीं सदी के नवजागरण का गुणात्मक अंतर स्पष्ट करते हैं और भारतीय परिस्थितियों में नवजागरण शब्द को ज्यादा उपयुक्त समझते हैं। नवजागरण का आरम्भ 1857 ई० में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से माना जाता है। सामाजिक क्षेत्र में नवजागरण का आरम्भ आर्य समाज की स्थापना (1875) के आन्दोलन के साथ हुआ। दरअसल भारत में नवजागरण का उदय बंगाल से होता है। जिसकी लहर 1860ई० के आस-पास हिन्दी क्षेत्र में आती है। सबसे पहले स्त्री शिक्षा का आंदोलन, विधवा-विवाह का समर्थन, बाल-विवाह का विरोध आदि इसी सुधारवादी चेतना के परिचायक थे। भारत में नवजागरण के जनक राजा

राममोहन राय हैं, जिन्होंने सामाजिक क्षेत्र में सती-प्रथा, बाल-विवाह, पर्दा-पथा आदि घातक और अनिष्टकारी कुरीतियों का विरोध किया। हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण के साथ दयानन्द सरस्वती का संबंध महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के विकास में उनका योगदान बहुत अधिक है। समाज सुधार और अंधविश्वासों, रूढ़ियों सम्बन्धी मतों का उन्होंने विरोध किया।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन के क्रम में नवजागरण के सभी प्रभावी कारक और उद्देश्यों की इन उपन्यासों पर स्पष्ट छाप दिखती है । किसी भी समाज का आधार स्तम्भ वहाँ की स्त्रियाँ होती हैं, अतः यदि समाज में सुधार लाना है तो आवश्यक हो जाता है कि पहले स्त्रियों की दशा में सुधार लाया जाए। इसलिए सभी समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा पर बल दिया। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का विरोध किया और विधवा-विवाह तथा स्त्री-पुरुष के सन्दर्भ में समानता का समर्थन किया।

नवजागरण की एक विशेषता यह है कि इसमें भावनाओं के स्थान पर तर्क और विवेक-बुद्धि को महत्त्व दिया गया। 'भाग्यवती' में उपन्यास भाग्यवती के पिता उमादत्त पूरे तर्क के साथ बाल-विवाह का विरोध करते हैं। उन्होंने यह तर्क दिया है कि मुसलमानी शासन में मुस्लिम शासक कुँवारी हिन्दू लड़कियों का अपहरण कर लिया करते थे। इस्लाम में विवाहित लड़कियों का अपहरण करना वर्जित था। इसलिए सात-आठ वर्ष की उम्र में ही लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। अब छोटी अवस्था में लड़की-लड़कों के विवाह करने में क्या प्रयोजन? उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तक बंगाल से प्रस्फुटित नवजागरण आन्दोलन हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था। लोग शिक्षा का महत्त्व समझने लगे थे, प्रबुद्ध लोगों का ध्यान लड़कियों की शिक्षा की ओर जाने लगा था। फिल्लौरी जी शिक्षा पर विशेष बल देते हैं। अपने उपन्यास 'भाग्यवती' में भाग्यवती को भाषा, व्याकरण, शिक्षा मंजरी के साथ-साथ खगोल, भूगोल, गणित और आत्म चिकित्सा आदि का अध्ययन कराते हैं।

'भाग्यवती' उपन्यास में श्रद्धाराम फिल्लौरी धार्मिक अंधविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और अपव्यय की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। विवाह के अवसर चील का पूजन करना, कीकर की मनौती, बकरे का कान छेदना जैसे आडम्बरों पर वे प्रहार करते हैं। दहेज प्रथा, अतिशबाजी जैसी फिजूल खर्ची को अनुपयोगी बताकर फिल्लौरी जी समाज सुधार का बड़ा कार्य अपने उपन्यास के माध्यम से करते हैं।

फिल्लौरी जी ने भाग्यवती के माध्यम से कानून के प्रति जागरूकता लाने की भी चेष्टा की है। उन्होंने बेटे और बेटी को समान दर्जा दिया है, दोनों में कोई भेद नहीं माना। उन्होंने 'भाग्यवती' उपन्यास में स्त्री शिक्षा के महत्त्व पर बल देते हुए शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का आधार व नवजागरण की संस्कृति की वाहक बताया। 'भाग्यवती' उपन्यास नवजारण की नई रोशनी के अनेक पक्षों को उजागर करता है। स्त्री शिक्षा के साथ स्त्री स्वावलम्बन की बात कर उन्होंने समाज को एक नया 'विजन' दिया है। भाग्यवती का चरित्र स्वावलम्बन का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। 19वीं शताब्दी में हिन्दू समाज में अनेक बुराईयाँ थीं, इन बुराईयों को दूर करने के लिए नवजागरण आया। 'भाग्यवती' में हिन्दू समाज की बुराईयों - बाल-विवाह, भूत-प्रेत और जादू-टोना, बच्चों को टीका न लगवाने, उन्हें जेवर पहनाने, लड़कियों को शिक्षा न देने आदि की आलोचना की गई है। नवजागरण चेतना की व्यापक पहल के अन्तर्गत समाज में जो बुराईयाँ व्याप्त है उनके प्रति आवाज उठाना और उसको नये संदर्भों में व्यक्त करना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। सामाजिक कुरीतियों को उपन्यास के माध्यम से उजागर करने का भरपूर प्रयास किया गया है और इन कुरीतियों से मुक्ति दिलाने की राह बताई गई है। यह उपन्यास भारतीय नवजागरण चेतना के अभिव्यक्ति की आरम्भिक परंतु सफल कोशिश है। समाज सुधार के संदर्भ में आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की चर्चा करते हुए ज्ञानचंद जैन लिखते हैं –"यदि हम 'देवरानी जेठानी की

कहानी', 'वामाशिक्षक' तथा 'भाग्यवती' एक साथ पढ़ें तो 1870 के दशक में हमारे परम्परागत समाज में जिस रीति से नये शहरी मध्यम वर्ग का उदय हुआ, उसकी एक अच्छी झाँकी मिल जाती है। इस नए वर्ग में अधिकांशतया बनिया, कायस्थ तथा ब्राह्मण सम्मिलित थे। 'देवरानी जेठानी की कहानी' की कथावस्तु यदि एक बनिया परिवार तथा वामाशिक्षक की कथावस्तु एक कायस्थ परिवार पर केन्द्रित है तो 'भाग्यवती' की कथा का मुख्य आधार एक ब्राहमण परिवार है। इस प्रकार तीन कथा-पुस्तकों में इन तीन मध्यमवर्गीय श्रेणियों के लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार तथा उनके जीवन-दृष्टिकोण की अच्छी जानकारी मिल जाती है।"[1]

राधाकृष्णदास ने 1881 ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परामर्श से मात्र सोलह वर्ष की आयु में 'नि:सहाय हिन्दू' उपन्यास की रचना की जो 1890 ई० में प्रकाशित हुआ। गोवध निवारण के उद्देश्य से इसकी रचना हुई थी। इसमें हिंदू समाज के साथ मुस्लिम समाज का भी चित्रण किया गया है। इसके पूर्व के उपन्यासों में मुस्लिम समाज का चित्रण नहीं मिलता है। इस काल की रचनाओं पर इस बात का प्रभाव सबसे ज्यादा पड़ता था कि पाठक की अभिरुचि किस तरह की है। अर्थात पाठक की पसंद को ध्यान में रखकर उपन्यास लिखे जाने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उपन्यासकार अपने पाठक की पसंद और नापसंद के मुताबिक रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। नरेंद्र कोहली आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं - "इस युग में लिखी गयीं औपन्यासिक कृतियाँ एकमात्र पाठक को ही संवृत्त किये हुए थी; पाठक की रूचि ही मुख्य थी, लेखक का कथ्य गौण था। अत: शास्त्रीय प्रयोजनों के अनुरूप किशोरीलाल गोस्वामी तथा उनके अन्य समसामयिक उपन्यासकारों के प्रयोजनों को सृजनकर्ता एवं प्रमाता सम्बन्धी विभिन्न शीर्षकों के वर्गीकृत करना संभव नहीं। ये समस्त प्रयोजन पाठक के लिए ही

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 61

हैं: (क) मनोरंजन, (ख) समाजोत्थान, (ग) ज्ञान तथा (घ) साहित्यिक अभावों की पूर्ति।"[1] किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का विवेचन करते हुए नरेंद्र कोहली जिन साहित्यिक प्रयोजनों की बात करते हैं वे दरसल आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों के साहित्यिक प्रयोजन हैं। यहाँ इन साहित्यिक प्रयोजनों का क्रम देखना दिलचस्प है। यह अनावश्यक नहीं है कि प्रयोजनों के क्रम में पहला स्थान मनोरंजन को दिया गया है। उस समय के उपन्यासों का विशद विवेचन करने से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि प्रारंभिक उपन्यास सृजन में मनोरंजन का प्रयोजन प्रमुख से है। उपन्यास की प्रकृति, कथावस्तु और शैली सब कुछ इस तरह रखी जाती थी कि वह अधिक से अधिक लोगों तक संप्रेषित हो सके और उनका मनोरंजन कर सके।

मनोरंजन के बाद समाजोत्थान आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का दूसरा प्रमुख साहित्यिक प्रयोजन है। ये उपन्यास जनसामान्य में जागरूकता का सन्देश लिए थे। कोरा मनोरंजन इनका उद्धेश्य न था। इसलिए इस दौर के उपन्यासकारों ने बड़ी सतर्कता से उस तरह की विषयवस्तु को अपनी रचना का आधार बनाया है जिसमें समाज का कोई न कोई महतत्त्वपूर्ण पहलू सामने आये और जिस पर उपन्यासकार को अपनी राय प्रकट करने का मौका मिले। तत्कालीन भारत कई स्तरों पर संक्रमण काल से गुजर रहा था इस लिहाज से आरम्भिक उपन्यासों में समाजसुधार की बातें होना बहुत स्वाभाविक है। स्वाधीनता संग्राम की पहली लड़ाई के बाद लोगों को अपनी कमजोरियों और विवशताओं का ज्ञान हो गया। वे किसी भी तरह के मुगालते में नहीं थे।

यह नवजागरण का काल था। जन सामान्य में वैचारिक स्तर पर नए विचारों के स्वागत का समय आ गया था और पुरानी रूढ़ियों व कुप्रथाओं से मुक्त होने का अवसर था। इसी समय पूरे देश में कई ऐसे संस्थान उभरकर सामने आये जो नवजागरण की प्रवृत्तियों एवं संदेशों को फ़ैलाने और उनके प्रचार

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ संख्या 3

प्रसार के लिए समर्पित थे। जब पूरे समाज में इस तरह की प्रवृत्ति हो तब कोई भी प्रबुद्ध सामाजिक प्राणी इससे विरत कैसे रह सकता है। यही कारण है कि शुरूआती दौर के उपन्यासों में समाजोत्थान की भावना और उस पर नकारात्मक प्रभाव डालने वाले तत्त्वों के रचनात्मक हल की ही बातें देखने को मिलती हैं।

समाजोत्थान की प्रवृत्ति साहित्यिक प्रयोजन के रूप में नयी थी। इससे पहले संस्कृत साहित्य में कई तरह के साहित्यिक प्रयोजनों की बात की गयी है। जिसमें यश की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति, अमंगल से बचने की इच्छा और उपदेश जैसे साहित्यिक प्रयोजनों की है। लेकिन इस समय के उपन्यासों में समाज सुधार की प्रवृत्ति का जुड़ना साहित्यिक प्रयोजनों की फेहरिश्त में नया प्रयोग था। यह प्रयोग अधिक व्यवहारिक था जो नवजागरण की चेतना से सीधे जुड़ता है। नरेंद्र कोहली समाजोत्थान की प्रवृत्ति को इस प्रकार देखते हैं- "साहित्य के प्रयोजन के रूप में 'समाजोत्थान के लिए शिक्षा' में कोई नवीनता नहीं है किन्तु इस उत्थान से तात्पर्य मात्र सामाजिक अथवा मानसिक उत्थान ही होता है। प्रयोजन के रूप में अर्थ की चर्चा पहले भी हुई है परन्तु पाठकों के आर्थिक उत्थान की चर्चा इसके पूर्व कदाचित ही कहीं हो। मार्क्स ने सवर्प्रथम सामाजिक उत्थान के मूल में अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया था। कदाचित उसी विचारधारा का यह अप्रत्यक्ष प्रभाव है"।[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के समाज सुधार के सैद्धांतिक पक्ष को 'भाग्यवती' उपन्यास के संदर्भ में ज्ञानचंद जैन इस प्रकार देखते हैं "श्रद्धाराम फिल्लौरी ने दिखाया है कि पं० उमादत्त नई चाल आरम्भ करने तथा पुरानी रीतियों का सुधार करने के इसी संकल्प-बल का परिचय देते हैं और अपने भाई बंधुओं तथा अन्य लोगों के बकने पर कोई ध्यान नहीं देते। उन्होंने अपनी पुत्री

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ संख्या 5

भाग्यवती को भी गृहस्थ धर्म तथा मनुष्य धर्म की शिक्षा देकर विद्या तथा गुण संपन्न बना दिया था। अपनी स्त्री की बात पर ध्यान न देकर उसका छोटी उम्र में विवाह करने से इन्कार कर दिया। उसको व्याकरण, ऋजु पाठ, हितोपदेश और शिक्षा मंजरी पढ़ा कर पंडिता बना दिया। उसे भूगोल, खगोल और गणित विद्या की भी शिक्षा दी। साहित्य-शास्त्र, नायिका भेद, अलंकारों और छंद का ज्ञान करवा कर संस्कृत श्लोकों तथा भाषा के दोहे-चौपाई-कवित आदि की रचना करने में समर्थ बना दिया। उसे सीने –पिरोने तथा पाककला में भी दक्ष बनाया।[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की समाजसुधार की प्रवृत्ति को विधागत आवश्यकता से अधिक पाठक वर्ग को आकर्षित करने की जरूरत के रूप में देखा जाना चाहिए। समाज सुधार कोई एकांगी अवधारणा नहीं है। समाज का निर्माण लोगों से होता है। लोग कई तरह की मान्यताओं से संचालित होते हैं। ये मान्यताएं उन्हें परम्पराओं से मिलती हैं। परंपरा का प्रवाह समय के साथ कई तरह की रूढ़ियों और विकारों से ग्रसित हो जाता है। यह रूढ़ियाँ इतनी धीरे-धीरे समाज के मध्य कदर अपनी पैठ बना लेती हैं कि जन सामान्य उन्हें सहज रूप से पहचान नहीं पाता और उसके लिए परंपरा और परंपरा में समय के साथ अनिवार्य बन गई रूढ़ियों के बीच फर्क करना मुश्किल हो जाता है। नवजागरण का काल भी परम्परा में वक्त के साथ घुस आयीं रूढ़ियों के निस्तारण का काल है। इस समय में महत्त्वपूर्ण सामाजिक चिन्तक समाज में व्याप्त रूढ़ियों को उसके असली या कहें घातक रूप से लोगों को परिचित करा रहे थे और निदान के मार्ग सुझा रहे थे। निदान की तलाश में ये लोग इतिहास से लेकर वेदों तक की यात्रा तय करते थे। वेदों और उपनिषदों से वे तत्त्व व परिभाषाएं खोज-खोज कर लायी जा रही थी जिनके आधार पर लोगों में व्याप्त सामाजिक रूढ़ियों का परिमार्जन किया जा सके।

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ64

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त समाज सुधार का स्वर एक पक्षीय न होकर बहुपक्षी था। एक तरफ 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'भाग्यवती', 'वामाशिक्षक' में भारतीय समाज के अंधविश्वासों और कुरीतियों के चित्रण द्वारा सुधार का सामाजिक पक्ष अधिक प्रबल दिखाई पड़ता है तो दूसरी तरफ मेहता लज्जाराम शर्मा अपने उपन्यासों 'धूर्त रसिकलाल' और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में सुधार को औपनिवेशिक संस्कृति से टकराहट लिए सांस्कृतिक सुधार के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। गोपाल राय ने मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों की सनातनी संस्कृति के सम्बन्ध में लिखा है "मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास एक प्रकार से समस्यामूलक कहे जा सकते हैं, पर उनमें जिन समस्याओं का चित्रण है वे सनातनी हिन्दू समाज की समस्याएं हैं। उपन्यासकार ने आधुनिक शिक्षा, विचारधारा और आचार विचार आदि का खण्डन कर सनातन हिन्दू सम्प्रदाय में प्रचलित धार्मिक सिद्धांतों का समर्थन किया है। इन उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वातन्त्र्य ही नहीं विधवा विवाह का भी विरोध किया गया है।"[1]

गोपाल राय ने मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों की औपनिवेशिक संस्कृति से टकराहट को नजरअंदाज कर दिया और उनके उपन्यासों के सांस्कृतिक मूल्यों को रूढ़ परम्परा की दृष्टि से ही देखा है। जबकि मेहता लज्जाराम शर्मा ने विकास, स्वतंत्रता और संस्कृति जैसे मूल्यों की साम्राज्यवादी व्याख्या के स्थान पर इनको भारतीय समाज की प्रकृति के आधार पर समझाने की कोशिश की है। वे मर्यादाओं के भीतर स्वतंत्रता की बात करते हैं। मर्यादाओं को तोड़ने वाली और खुले भोग की स्वतन्त्रता उन्हें स्वीकार नहीं। यह आज भी उतना ही बड़ा सच है कि औपनिवेशी मूल्यों की स्वतंत्रता भारतीय समाज में फिट नहीं बैठती है और ऐसी स्वतंत्रता आज भी हमारे समाज और संस्कृति के लिए खतरा है। औपनिवेशी- साम्राज्यवादी

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 115

सांस्कृतिक संकट के प्रतिरोध के लिए मेहता लज्जाराम शर्मा जिस हिन्दू पुनरुत्थान की बात अपने उपन्यासों में करते हैं वह एक तरह से राष्ट्रवाद की अवधारणा के अनुकूल था। हमारा अतीत ही ऐसे में हमारे लिए प्रेरक बन सकता है और मेहता लज्जाराम शर्मा ने इस युक्ति का प्रयोग किया। गोपाल राय ने मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' के सम्बन्ध में "स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी में रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों की कहानी के माध्यम से यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अंग्रेजी ढंग की शिक्षा तथा स्वतंत्रता प्राप्त स्त्री को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है, जबकि भारतीय आदर्शों के अनुरूप ढली स्त्री को सुख की प्राप्ति होती है।"[1]

इस कथन से असहमत होने के पर्याप्त कारण हैं, इसका जबाब स्वयं मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' के समापन पर दिए नोट में निहित है "नोट –यह पुस्तक किसी समाज या व्यक्ति पर आक्षेप करने की दृष्टि से नहीं लिखी गयी है। दोनों नायिकाओं के चरित्र दोनों ओर की पराकाष्ठा है। अच्छे और बुरेपन का सम्बन्ध किसी समाज से नहीं है। सुख और दुःख दिखलाने के लिए गुणावगुण की अवधि का चित्र खैंचा गया है। तात्पर्य यही है कि स्वतंत्रता ग्रहण कर कोई स्त्री अधिक से अधिक रमा के समान बुरी और परतंत्र रहने पर भी अधिक से अधिक लक्ष्मी के समान अच्छी हो सकती है।"[2]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के समाज सुधार के रचनात्मक पक्ष को देखें तो हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय में मोदी सरकार जिस इंटरप्रन्योर और महिला सशक्तिकरण के नारे को बुलंद कर रही है उसका साहित्यिक रूप सन् 1877 ई० में रचित श्रद्धाराम फिल्लौरी के भाग्यवती उपन्यास में मिल

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 115

[2] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, पृष्ठ 100 (समापन)

जाता है। भाग्यवती को स्त्री स्वावलंबन का उदाहरण बना कर समाज सुधार की लेखकीय सोच उपन्यास में अभिव्यक्त हुई है। उपन्यासकार के लिए साहित्य का यह प्रयोजन अनपेक्षित नहीं है। स्कॉट जेम्स ने उपन्यास के प्रयोजनों में इसे मुख्य स्थान दिया है : "The novel has been made a vehicle for the teaching of history."[1]

मात्र सूचना देना साहित्य का प्रयोजन नहीं हो सकता है और न ही यह साहित्य के क्षेत्र के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। यदि कोई साहित्यिक कृति सूचनाओं से अवगत कराती है, शुद्ध ज्ञान प्रदान करती है, तो भी ज्ञान के साहित्य से वह भिन्न है, अत: उसकी विधि व प्रकार में अंतर भी अपेक्षित है। आरम्भिक उपन्यासों में अभिव्यक्त कथ्य ही नहीं बल्कि उनके साहित्यिक प्रयोजन भी तत्कालीन समाज की दशा का निरूपण करने वाले हैं। कहना न होगा कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में समाज के हर स्वर को अभिव्यक्ति मिली है। सही अर्थों में हासिए पर पड़ा समाज पहली बार साहित्य की विषय वस्तु बना। इतने तरह के सामाजिक स्वर के आने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि इस विधा में समाज के जिस वर्ग को प्रतिनिधित्व मिला वह मुख्यधारा से बाहर का था और अब तक साहित्य का विषय नहीं बना था।

स्त्री शिक्षा का सवाल और स्त्री जीवन से जुड़े अन्य मसलों पर बात करने पर तमाम सामाजिक कुरीतियों और समाज से जुड़े विभिन्न विषय स्वयं ही चर्चा के केंद्र में आ गये। विधा के रूप में उपन्यास भले ही नया था लेकिन समाज के लगभग हर रूप से यह अपने पाठकों को अवगत कराता है और उपयोगी सुझाव भी देता है। यद्यपि समाज सुधार का फार्मूला स्त्रियों पर अधिक आजमाया गया तथा उन्हें ही अधिक उपदेश दिए गये हैं। स्त्री समानता व स्त्री अधिकारों की दृष्टि से उपन्यासकार पितृसत्ता की मानसिकता से बाहर नहीं निकल पाये। वैभव सिंह ने अपनी पुस्तक 'भारतीय उपन्यास और

[1] R.A. Scott James, The making of literature, Page 363

आधुनिकता' में लिखते हैं "इस दौर के समस्त औपन्यासिक साहित्य में पितृसत्ता द्वारा औरत की जिदंगी में जो कदम- कदम पर मुसीबतें खड़ी की जाती है उनका जिक्र नहीं हैं। बस शिक्षा देने के भर के जादुई असर का महिमागान किया गया है। इसके अलावा कौटुम्बिक व्यभिचार, घरेलू हिंसा प्रताड़ना, अभाव, भेदभाव ऐसे विषय हैं जिन्हें ऐसे देश में हर स्त्री को भुगतना पड़ता है जहां उन्हें सुंदर कपड़ों व शस्त्रों वाली देवी के रूप में पूजने का काम भी जोरशोर से होता है।"[1]

सुधारवादी उपन्यासों की सीमा का वैभव सिंह ने तार्किक विश्लेषण तो किया है पर उनका विश्लेषण वर्तमान को सामने रख कर किया गया है। आरम्भिक उपन्यासों का सामाजिक पक्ष सुधार का ही अधिक रहा है वर्तमान की तरह अधिकारों के संघर्ष का नहीं। सुधार और अधिकार के बीच आज जो सूक्ष्म रेखा है वे उस दौर में दो अलग बातें थी। यह सच है कि सुधारवादी उपन्यासों में परिवार में पुरुष की तुलना में स्त्रियों की हीनता पर खास ध्यान न देकर उन्हीं को शिक्षा व समझदारी के जरिये बेहतर बनने का लिए सन्देश दिया गया। हैसियत व अधिकारों के स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता को सामने लाने की बजाय औरत को औरत से भिड़ा दिया गया और दिखाया गया है कि किस प्रकार स्त्रियाँ ही स्त्रियों के खिलाफ साजिशें करती है। पुरुष की अधिकारवादी साजिशें इस दौर के उपन्यासकारों के चिंतन का विषय नहीं बनी या उपन्यासकार अपने भीतर बैठे पुरुष के सामाजिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये। इन कमजोर कड़ियों के बावजूद भी आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सुधारवादी पक्ष साहित्य के सामाजिक पक्ष की दृष्टि से आश्वस्त करने वाला रहा है।

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 24

2- मनोरंजन

मनोरंजन साहित्य की हर विधा की एक प्रवृत्ति मानी जा सकती है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट रहा है। चाहे इसे भारतीय साहित्य के आनंदवादी मूल्यों से जोड़कर देखें या उपन्यास की आरम्भिक अवस्था की एक सामान्य विशेषता मानें। मनोरंजन की प्रवृत्ति उपन्यास विधा को नैतिकता के उपदेशपरक भार से बचाने का एक सराहनीय प्रयास है। मनोरंजन की प्रवृत्ति को इतिहास की नीरसता और दर्शन के गूढ़ भावों के भार को कम करने वाले प्रवृत्ति के रूप में देखा जाना चाहिए। यह ऊपर से थोपे जाने वाले मूल्यों के रूप में न होकर जीवन को मनोरंजन के माध्यम से नई दिशा देने का काम करती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्य की मनोरंजनात्मक प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए कहा था केवल मनोरंजन ही कवि का कर्म नहीं होना चाहिए उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

रामचंद्र तिवारी ने आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्ति के सन्दर्भ में मनोरंजनप्रधान विषयवस्तु के बारे में लिखा है "इस प्रकार यदि हम उपन्यासों की रचना के मूल में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण करें, तो समूचा उपन्यास साहित्य प्रमुखत: दो वर्गों में सीमित हो सकता है-मनोरंजनप्रधान तथा सामाजिक चेतना से युक्त। - - -मनोरंजन का तत्त्व न्यूनाधिक हर युग के साहित्य का प्रेरक होता है। प्रेमचंद-पूर्व के सामाजिक जागरण से प्रेरित उपन्यास भी मनोरंजन के तत्त्व से सर्वथा रहित नहीं है।"[1]

[1] रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ 147

हिन्दी में तिलिस्मी ऐयारी उपन्यासों के प्रवर्तक देवकीनंदन खत्री ने मनोरंजन की प्रवृत्ति को हिन्दी उपन्यास की ऐसी विशेषता के रूप में प्रसिद्ध बना दिया कि हिन्दी पाठकों की नयी फौज तैयार करने का पूरा श्रेय शुक्ल जी ने आपको ही दे डाला। देवकीनन्दन खत्री के नाना नानी का निवास स्थान मुजफ्फरपुर था। इनके पिता 'लाला ईश्वरदास' युवावस्था में लाहौर से काशी आए थे और यहीं रहने लगे। कुछ दिनों बाद उन्होंने महाराज बनारस से चकिया और नौगढ़ के जंगलों का ठेका ले लिया था। इस कारण से देवकीनंदन की युवावस्था अधिकतर उक्त जंगलों में ही बीती थी। इन्हीं जगंलों और उनके खंडहरों से देवकीनन्दन खत्री को प्रेरणा मिली, जिसने 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ' जैसे ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की रचना कराई। इन उपन्यासों ने देवकीनन्दन खत्री को हिन्दी साहित्य में अमर कर दिया। इनके सभी उपन्यासों का रचना तंत्र मौलिक और स्वतंत्र है। तिलस्मी तत्त्व में देवकीनंदन खत्री ने अपने चातुर्य और बुद्धि-कौशल से ऐय्यारी वाला वह तत्त्व भी मिला दिया जो बहुत कुछ भारतीय है। यह प्रसिद्ध बात है कि 19वीं शताब्दी के अंत में लाखों पाठकों ने बहुत ही चाव और रुचि से इनके उपन्यास पढ़े और हज़ारों आदमियों ने केवल इन उपन्यासों पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। यही कारण है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक श्री वृंदावनलाल वर्मा ने देवकीनंदन खत्री को हिन्दी का 'शिराज़ी' कहा है।

देवकीनन्दन खत्री बचपन से ही घूमने के बहुत शौकीन थे। इस ठेकेदारी के कार्य से उन्हें पर्याप्त आय होने के साथ-साथ घूमने फिरने का उनका शौक़ भी पूरा होता रहा। वह लगातार कई-कई दिनों तक चकिया एवं नौगढ़ के बीहड़ जंगलों, पहाड़ियों और प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के खण्डहरों की खाक छानते रहते थे। बाद में जब उनसे जंगलों के ठेके वापिस ले लिए गये तब इन्हीं जंगलों, पहाड़ियों और प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के खण्डहरों की

पृष्ठभूमि में तिलिस्म तथा ऐयारी के कारनामों की कल्पनाओं को मिश्रित कर उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास की रचना की।

'चन्द्रकान्ता' (सन् 1888) को मूलत: और प्रमुखत: एक प्रेम-कथा कहा जा सकता है। चार हिस्सों में विभाजित इस उपन्यास की कथा अनायास ही हमें मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्यों का स्मरण कराती है। इस प्रेम-कथा में अलौकिक और अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्राय: अभाव है और न ही इसे आध्यात्मिक रंग में रंगने का ही प्रयास किया गया है। यह शुद्ध लौकिक प्रेम-कहानी है, जिसमें तिलिस्मी और ऐयारी के अनेक चमत्कार पाठक को चमत्कृत करते हैं। नौगढ़ के राजा सुरेन्द्रसिंह के पुत्र वीरेन्द्रसिंह तथा विजयगढ़ के राजा जयसिंह की पुत्री चन्द्रकान्ता के प्रणय और परिणय की कथा उपन्यास की प्रमुख कथा है। इस प्रेम कथा के साथ-साथ ऐयार तेजसिंह तथा ऐयारा चपला की प्रेम-कहानी भी है। विजयगढ़ के दीवान कुपथसिंह का पुत्र क्रूरसिंह इस उपन्यास का खलनायक है। वह राजकुमारी को हथियाने के लिए अनेक षड्यन्त्र रचता है। नाज़िम और अहमद जैसे ऐयार उसके सहायक हैं परन्तु अपने कुकृत्यों के अनुरूप ही उसका अन्त हो जाता है। चुनार का राजा शिवदत्त सिंह भी असत् अथवा खल पात्रों की श्रेणी में आता है। वह क्रूर सिंह से प्रेरित होकर चन्द्रकान्ता की प्राप्ति का विफल प्रयत्न करता है। वह विजयगढ़ पर आक्रमण करता है, परन्तु नौगढ़ एवं विजयगढ़ के शासकों और वीरेन्द्र सिंह की वीरता तथा जीत सिंह, तेज सिंह, देवी सिंह आदि ऐयारों के प्रयत्न से परास्त होता है। इन ऐयारों की सहायता से वीरेन्द्र सिंह अनेक कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करता हुआ तिलिस्म को तोड़ता है और चन्द्रकान्ता को मुक्त कराता है। इस तिलिस्म से उसे अपार सम्पदा प्राप्त होती है और वह चन्द्रकान्ता का पाणिग्रहण करता है। चपला तेजसिंह की परिणीता बनती है और चम्पा का देवी सिंह की।

हूण और मुगल आक्रमणकारियों के समय से भारत में नारियों का सम्मान कम हुआ और क्रमशः पर्दा प्रथा आदि कुरीतियाँ भारतीय जीवन पर अपना प्रभाव दिखाने लगीं। आज के समय में सामान्य व्यक्ति पर्दा प्रथा को भारतीय देन समझता है। इस उपन्यास में भी कुछ मिश्रित प्रभाव दिखाई देता है। एक तरफ तो ऐयारी जैसा कार्य जिसमें काफी जोख़िम और साहस का प्रदर्शन करना होता है उसमें चपला, चम्पा तथा आगे के भागों में मनोरमा, गौहर आदि बढ़-चढ़कर भाग लेती बताई गई हैं, वहीं दूसरी तरफ राज परिवार पर्दा प्रथा का अभ्यास करते भी दिखे हैं।

देवकीनन्दन खत्री ने समसामयिक नीति-प्रधान उपन्यासों से भिन्न कौतूहल प्रधान 'तिलिस्मी ऐयारी' उपन्यास रचना करके हिन्दी उपन्यास की नयी दिशा को उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया। 'तिलिस्म' अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ है-'ऐन्द्रजालिक रचना, गाड़े हुए धन आदि पर बनायी हुई सर्प आदि की भयावनी आकृति व दवाओं तथा लग्नों के मेल से बँधा हुआ यन्त्र'। सरल शब्दों में कहें तो तिलिस्म का शाब्दिक और तात्त्विक अर्थ है –दृष्टि बंधन। 'चन्द्रकान्ता' के चौथे भाग के बीसवें बयान में ऐयार जीत सिंह के मुंह से देवकीनंदन खत्री कहलाते हैं ''तिलिस्म वही शख्स तैयार करता है, जिसके पास बहुत माल-खजाना हो और वारिस न हो। पुराने जमाने के राजाओं को जब तिलिस्म बाँधने की आवश्यकता होती थी तब ज्योतिषी, कारीगर और तांत्रिक लोग इकट्ठे किये जाते थे। उन्हीं लोगों के कहे मुताबिक तिलिस्म बाँधने के लिए जमीन खोदी जाती थी, उसी जमीन के अन्दर खजाना रखकर ऊपर तिलिस्मी इमारत बनायी जाती थी। उसमें ज्योतिषी, नजूमी, वैद्य, कारीगर और तांत्रिक लोग अपनी ताकत के मुताबिक उसके छिपाने की बंदिश करते थे मगर इसके साथ ही उस आदमी के नक्षत्र एवं ग्रहों का भी खयाल रखते थे, जिसके लिए वह खजाना रक्खा जाता था।''[1]

[1] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता, पृष्ठ 202

'ऐयार' शब्द भी अरबी का है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- धूर्त अथवा वेश या रूप बदलकर अनोखे काम करने वाला व्यक्ति। 'ऐयार' उसको कहते हैं जो हर एक फन जानता हो, शक्ल बदलना और दौड़ना उसके मुख्य काम हैं। ऐयारों के सम्बन्ध में खत्री जी ने 'चन्द्रकान्ता' की भूमिका में लिखा है- राजदरबारों में ऐयार भी नौकर होते थे जो कि हरफनमौला, यानी सूरत बदलना, बहुत-सी दवाओं का जानना, गाना-बजाना, दौड़ना, अस्त्र चलाना, जासूसों का काम करना, वगैरह बहुत-सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून बहाये व पलटनों की जाने गंवाये लड़ाई खत्म करा देते थे।'[1]

'चन्द्रकान्ता' में लेखक चुनार के बाहर के खण्डहर के तिलिस्म का वर्णन करता है, जहाँ काले पत्थर के खम्भे पर संगमरमर का बगुला है जो किसी के पास आते ही मुँह खोल लेता है और उसे उदरस्थ कर लेता है। चन्द्रकान्ता को यही बगुला निगल लेता है तथा वह तिलिस्म में कैद हो जाती है। उसकी सखी चपला का भी यही हाल होता है। इस तिलिस्म के विषय में एक सुर्ख पत्थर पर लिखा है-'यह तिलिस्म है, इसमें फंसने वाला कभी बाहर नहीं निकल सकता। हाँ, अगर कोई इसको तोड़े तो सब कैदियों को छुड़ा ले और दौलत भी उसके हाथ लगे। तिलिस्म तोड़ने वाले के बदन में खूब ताकत भी होनी चाहिए, नहीं तो सारी मेहनत व्यर्थ है।' इस तिलिस्म को तोड़ने की विधि भी एक पुस्तक में लिखी मिलती है, जिसका अर्थ तेज सिंह और ज्योतिषी जी रमल की सहायता से ज्ञात करते हैं। इस पुस्तक की प्राप्ति से वीरेन्द्रसिंह अपने ऐयार साथियों की मदद से अनेक कठिनाईयों, बाधाओं एवं संघर्षों का सामना करता हुआ तिलिस्म को तोड़ने में सफल होता है और चन्द्रकान्ता को मुक्त कराता है। उपन्यास के तीसरे और चौथे हिस्से में मुख्य रूप से तिलिस्म को तोड़ने की कथा का रोचक, कौतूहल पूर्ण और अद्‌भुत वर्णन है। वनकन्या,

[1] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता – भूमिका

सूरजमुखी आदि पात्रों का सृजन और उनके कार्य उपन्यास में रोचकता और कौतूहल की वृद्धि करते हैं। कौतूहल प्रेमी पाठकों को विशेषकर यह अंदाजा लगाने में भी काफी आनन्द आता है कि कब कौन सा ऐयार क्या करामात दिखा रहा है। कई पात्रों के चलते यह कार्य काफी चुनौती भरा बन जाता है। इसी शृंखला खला में भूतनाथ सबसे गूढ़ पात्र बन जाता है, यहाँ तक कि उसके चरित्र को सही प्रकार से समझाने के लिए देवकीनन्दन खत्री को एक और चौबीस खण्डों का उपन्यास भूतनाथ लिखना पड़ गया।

ऐयारी प्रधान होने के कारण 'चन्द्रकान्ता' में ऐयारों की चालों, फनों और घात-प्रतिघातों का बड़ा ही सजीव, रोचक और चमत्कारिक वर्णन मिलता है। उपन्यास में कई ऐयार हैं। वीरेन्द्र सिंह के पक्ष के ऐयार हैं- जीत सिंह, तेज सिंह, और देवी सिंह। क्रूरसिंह के ऐयार हैं- अहमद और नाजिम। शिवदत्त के छः ऐयार हैं- पण्डित बद्रीनाथ, चुन्नीलाल, रामनारायण, भगवानदत्त, पन्नालाल और घसीटासिंह। उनके पास रमल का ज्ञाता ज्योतिषी जगन्नाथ भी है। चपला और चम्पा ऐयारिनें हैं जो कि चन्द्रकान्ता के साथ रहती हैं। उपन्यास में इन ऐयारों के कार्य पाठकों को चमत्कृत और विस्मित करते हैं। कहीं ये सुंघनी सुंघाकर किसी को बेहोश कर देते हैं और कहीं लखलखा सुंघाकर होश में ले आते हैं। ऐयारी बटुआ इनके पास हमेशा रहता है और इसमें वे सभी आवश्यक सामग्री रखते हैं। जासूसी करने, लड़ने-भिड़ने, गाने-बजाने, नाचने आदि में ये कुशल होते हैं। ऐयारों के कार्य उपन्यास की कथा को मोड़ देते हैं। कहीं देवी सिंह साधु का वेश बनाकर तेज सिंह को सावधान करता है तो कहीं चपला और चम्पा की नकली लाशें हैं। कहीं वनकन्या और सूरजमुखी के करतब हैं, कहीं नकली चन्द्रकान्ता शिवदत्त सिंह से प्रेम प्रदर्शन करती है तो कहीं जालिम खाँ और आफत खाँ अपने-अपने ढंग से आफत और जुल्म ढाते हैं, जीत सिंह रहस्यमय रूप से साधु बाबा बन जाता है। सारे उपन्यास में इन ऐयारों के चमत्कारपूर्ण कार्य पाठक को मुग्ध और स्तम्भित करते हैं।

ऐयारों की अपनी आचार-संहिता भी है, जिसका पालन करना वे अपना कर्त्तव्य मानते हैं। उपन्यास में वर्णित ऐयारों के घात-प्रतिघात विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में वर्णित चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक दांव-पेचों का स्मरण करा देते हैं। वस्तु-संगठन में उत्सुकता और कौतूहल की प्रधानता, पात्रों के सृजन में विविध क्षेत्रों से उनका चयन, बातचीत के संवाद, चुनार, विजयगढ़, नौगढ़ आदि की नदियों, तालाबों, बावड़ियों, खोहों, टीलों, खण्डहरों, पक्षियों, वृक्षों आदि का चित्रात्मक शैली में प्रकृति-चित्रण, युगीन परिस्थितियों का अप्रत्यक्ष रूप में अंकन, बोलचाल की सजीव भाषा, आदर्श चरित्रों की सर्जना द्वारा नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि 'चन्द्रकान्ता' की कतिपय ऐसी विशेषताएं हैं जो लेखक के जीवन अनुभव, कल्पना की विस्मयकारी उड़ान तथा कथा-निर्माण की अद्‌भुत क्षमता की परिचायक हैं। वस्तुत: तिलिस्म और ऐयारी के सूत्रों से गुंथी हुई प्रेम और रोमांस की यह औपन्यासिक कथा हिन्दी के घटना-प्रधान रोमांचक उपन्यासों की ऐसी शुभ शुरूआत थी, जिसने असंख्य पाठकों को हिन्दी भाषा का प्रेमी बना दिया और हिन्दी उपन्यास को दृढ़ आधारशिला प्रदान की।

'चन्द्रकान्ता संतति' देवकीनन्दन खत्री का दूसरा उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1896 ई० में हुआ। उपन्यासों की यह शृंखला अत्यधिक लोकप्रिय हुई। यह तिलिस्म और ऐयारी पर आधारित है और इसका नाम नायिका के नाम पर रखा गया है। 'चन्द्रकान्ता संतति' को एक प्रेम कथा कहा जा सकता है। इस शुद्ध लौकिक प्रेम कहानी को, दो दुश्मन राजघरानों, नौगढ़ और विजयगढ़ के बीच, प्रेम और घृणा का विरोधाभास आगे बढ़ाता है। विजयगढ़ की राजकुमारी चन्द्रकान्ता और नौगढ़ के राजकुमार वीरेंद्र सिंह का आपस में प्रेम है, लेकिन राजपरिवारों में दुश्मनी है। दुश्मनी का कारण है कि विजयगढ़ के महाराज नौगढ़ के राजा को अपने भाई की हत्या का ज़िम्मेदार मानते हैं। हालांकि इसका ज़िम्मेदार विजयगढ़ का महामंत्री क्रूर सिंह है, जो चन्द्रकान्ता से शादी करने और विजयगढ़ का महाराज बनने का सपना देख रहा है।

राजकुमारी चन्द्रकान्ता और राजकुमार वीरेंद्र की प्रमुख कथा के साथ-साथ ऐयार तेज सिंह तथा ऐयारा चपला की प्रेम कहानी भी चलती रहती है। कथा का अंत नौगढ़ के राजा सुरेन्द्र सिंह के पुत्र वीरेंद्र तथा विजयगढ़ के राजा जयसिंह की पुत्री चन्द्रकान्ता के परिणय से होता है।

बाबू देवकीनंदन खत्री लिखित चन्द्रकान्ता संतति हिन्दी साहित्य का ऐसा उपन्यास है जिसने पूरे देश में तहलका मचाया था। बाबू देवकीनन्दन खत्री ने पहले 'चन्द्रकान्ता' लिखा फिर 'चन्द्रकान्ता' की लोकप्रियता और सफलता को देख कर उन्होंने चन्द्रकान्ता की कहानी को आगे बढ़ाया और 'चन्द्रकान्ता संतति' की रचना की। हिन्दी के प्रचार प्रसार में यह उपन्यास मील का पत्थर है। कहते हैं कि लाखों लोगों ने चन्द्रकान्ता संतति को पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। घटना प्रधान, तिलिस्म, जादूगरी, रहस्यलोक, ऐय्यारी की पृष्ठभूमि वाला हिन्दी का यह उपन्यास आज भी लोकप्रियता के शीर्ष पर है।

घटना प्रधान जासूसी उपन्यास लेखन की दृष्टि से गोपाल राम गहमरी के उपन्यास आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में अपनी जासूसी प्रवृत्ति के लिए जाने जाते हैं। वे रचनाओं में पाठकों की रुचि का विशेष ध्यान रखते थे कि पाठक किस तरह की सामग्री पसंद करते हैं। उनका मानना था कि साहित्य जिस युग में रचा जाता है, उसके साथ उसका गहरा संबंध होता है। वे उपन्यास को अपने समय का इतिहास मानते थे। गोपालराम गहमरी के उपन्यासों के बारे में नरेंद्र कोहली का मनना है, "प्रेमचन्द-पूर्व काल में गोपालराम गहमरी के मौलिक एवं अनूदित उपन्यासों की संख्या कदाचित सर्वाधिक है। इनके उपन्यास 'जासूस' मासिक के प्रकाशित होते रहे हैं, अत: इनके साहित्य-विषयक स्पष्ट वक्तव्यों की संख्या अल्प ही है। स्वतंत्र रूप के प्रकाशित उपन्यासों में इनकी संक्षिप्त भूमिकाएं उपलब्ध हैं। जिनके आधार पर किसी सीमा तक इनके साहित्य-सिद्धांतों का विवेचन किया जा सकता है। इन भूमिकाओं में उपन्यास के साथ 'नाटक', 'दृश्य-काव्य', 'श्रव्य-काव्य' इत्यादि

शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है, जिससे अनुमान होता है कि वह विशिष्ट उक्ति सम्पूर्ण साहित्य के विषय में सार्थक होगी, किन्तु वस्तु स्थति यह नहीं है। उन उक्तियों का सत्य मात्र उपन्यास तक ही सीमित है। प्राय: साहित्य प्रयोजन एवं उपन्यास के उद्देश्य को उन्होंने अभिन्न माना है और फिर भी वह उपन्यास का उद्देश्य ही अधिक है साहित्य-प्रयोजन कम। ऐसी स्थिति में यदि साहित्य प्रयोजन के अंतर्गत उस पर विचार किया जाय तो न साहित्य-प्रयोजन के साथ न्याय हो पायेगा, न उपन्यास के उद्देश्य के साथ ही, अत: उपन्यास के उद्देश्य के अंतर्गत ही उस पर विचार करना अधिक समीचीन होगा"।[1](हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत - - नरेंद्र कोहली पेज 11

गोपालराम गहमरी के प्रमुख उपन्यास 'गुप्तचर', 'बेकसूर की फांसी', 'केतकी की शादी', 'हम हवालात में', 'तीन जासूस', 'चक्करदार खून', 'ठन ठन गोपाल', 'गेरुआ बाबा', 'मरे हुए की मौत' आदि रचनाओं में केवल रहस्य रोमांच ही नहीं हैं, बल्कि युग की संगतियां और विसंगतियां भी मौजूद हैं। समाज की दशा और दिशा का आकलन भी है। यह कहकर कि वे जासूसी और केवल मनोरंजक रचनाएं हैं, उनकी रचनाओं को खारिज नहीं किया जा सकता है, न उनके अवदानों से मुंह मोड़ा जा सकता है। गहमरी जी के बाद की पीढ़ी को जो लोकप्रियता मिली, उसका बहुत कुछ श्रेय देवकीनंदन खत्री और गहमरी जी को ही जाता है। इन्होंने अपने लेखन से वह स्थितियां बना दी थी कि लोगों का पढ़ने की ओर रुझान बढ़ गया था। गहमरी जी ने सैकड़ों कहानियों, उपन्यासों के अनुवाद किए।

प्रदीप सक्सेना ने देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों में मनोरंजन को यथार्थ की भूमि पर समझाने का प्रयास किया है और चन्द्रकान्ता उपन्यास को तिलिस्म के प्रचलित अर्थ में तिलिस्मी उपन्यास नहीं माना है "चन्द्रकान्ता प्रचलित अर्थ में तिलिस्मी उपन्यास नहीं है। इसे कोई तिलिस्मी सिद्ध नहीं कर सकता।

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ - 11

तिलिस्म यहाँ केवल शैली शिल्प का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। एक टेकनीक है। चन्द्रकान्ता और संतति का मूल्यांकन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक इस प्रस्थान बिंदु को छोड़ नहीं दिया जाता।"[1]

उपन्यास की मनोरंजन की प्रवृत्ति उसके साहित्यिक यानि कांतासम्मित होने का आधार कही जा सकती है। उपदेश की नीरसता और नीतिशास्त्र की थोपी हुई नैतिकता से पाठक को दूर रखते हुए सहज ही उसके हृदय का परिष्कार करने की कला का नाम ही मनोरंजन हैं। मनोरंजन का चलताऊ अर्थ मन बहलाव के रूप में ले लिया जाता है परन्तु सच तो यह है कि साहित्य के प्रयोजन को पाठक के मन में उतारने की कला ही मनोरंजन है। तिलिस्मी-ऐयारी और जासूसी उपन्यास पाठक का मनोरंजन ही नहीं कर रहे थे अपितु पाठक को जीवन व्यवहार की शिक्षा भी दे रहे थे। सुधारवादी प्रवृत्ति में उपन्यासकार उपदेशक की भूमिका में उतर जाता है जिससे उपन्यास की सरसता नकारात्मक रूप से प्रभावित होती है। यही कारण है कि ऐसे उपन्यास अपने समापन में उपदेश कथा के बहुत करीब नजर आते हैं। साथ ही सुधारवादी उपन्यासों में उपन्यास के पात्रों और पाठक के बीच रचनाकार स्वयं आ खड़ा हो जाता है जिससे कथा का प्रवाह प्रभावित होता है। मनोरंजन परक उपन्यासों में कथा के प्रवाह को बाधित करने के लिए लेखक पाठक से संवाद नहीं करता है अगर वह आता भी है तो उपदेशक न बन कर पाठक का सहयोगी बनकर घटना की जानकारी देने के लिए। वह पाठक की उलझन को दूर करने के लिए या घटनासूत्र को जोड़ने के लिए उपस्थित होता है।

एक तरह से देखा जाये तो उपन्यास का साहित्यिक रूप सुधारवादी उपन्यासों की तुलना में मनोरंजन प्रवृत्ति की प्रधानता वाले उपन्यासों में अधिक सुरक्षित दिखाई पड़ता है। साहित्य का सम्बन्ध मस्तिष्क की तुलना में मन से अधिक

[1] प्रदीप सक्सेना, तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र, पृष्ठ –31

रहता है। मनोरंजन का सम्बन्ध भी मन से है। वह घटनाओं के माध्यम से अपने चित्त का परिष्कार करता है। यह कहना गलत होगा कि देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' उपन्यासों का महत्त्व मनोरंजन के इतर कुछ नहीं था। सच तो यह है कि जीवन मूल्यों और मर्यादाओं के आदर्श जितने सहज रूप में इन उपन्यासों द्वारा स्थापित हुए उतने सुधारवादी और उपदेश प्रधान उपन्यासों से नहीं। इस दृष्टि से मनोरंजनपरक उपन्यास साहित्य के स्वभाव के अधिक अनुकूल नजर आते हैं।

'चन्द्रकान्ता' की भूमिका में देवकीनंदन खत्री स्वयं इस बात कि ओर इशारा करते हैं। वे स्वीकारते हैं कि उपन्यास पाठकों के मनोविनोद मात्र के लिए नहीं होते - "अगर हिन्दी पढ़ने वाले भी इस मजे को देख लें, तो कई बातों का फायदा हो। सबसे ज्यादा फायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखें में न पड़ेगा।"[1]

मनोरंजन की प्रवृत्ति की पाठक स्वीकार्यता के कारण ही इस प्रवृत्ति से इतर के उपन्यासकार इसका विरोध भी कर रहे थे। मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यास 'बिगड़े का सुधार' की भूमिका में जो बात कही है वह इन उपन्यासों की प्रसिद्धि का संकेत करती है। वे लिखते हैं – "जिन सुलेखकों को अपने उपन्यासों की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलिस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पड़े तो मेरी समझ में हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं क्योंकि लोगों ने ऐसे-ऐसे उपन्यासों की रचना द्वारा पाठकों की अरुचि छुटाकर पोथियाँ पढ़ने का चटरस उनके मन में पैदा कर दिया है।"[2]

[1] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकान्ता,भूमिका

[2] मेहता लज्जाराम शर्मा, बिगड़े का सुधार, भूमिका

3- उपदेश

उपदेश साहित्य का स्वभाव नहीं है और उपन्यास विधा में तो उपदेशात्मकता उसकी प्रकृति के नितांत विपरीत है। उपन्यास की सामाजिकता के संबंध में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति उसके सुधारात्मक चिंतन का एक प्रमुख भाग है। उपदेश की प्रवृत्ति आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में अपने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के साथ व्यावहारिक और मनोरंजन की यथार्थवादी दृष्टि के साथ देखी जा सकती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि एक तो उपदेश की प्रवृत्ति उस समय के किसी भी उपन्यास की केन्द्रीय प्रवृत्ति नहीं है दूसरा वह समस्याओं का काल्पनिक समाधान बन कर नहीं अपितु यथार्थ समस्याओं का मनोरंजक और शिक्षा-प्रद समाधान प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो उपदेश देना किसी भी साहित्यिक विधा की केंद्रीय प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, यद्यपि प्राचीन साहित्य शास्त्र में साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण कारक उपदेशात्मकता को भी स्वीकार किया गया है। साहित्य का उपदेश किसी उपदेशक के कोरे उपदेश की तरह नहीं माना गया। साहित्य एक प्रेयसी या पत्नी की तरह उपदेश करता है। जिस तरह पत्नी कभी मनुहार करके तो कभी जिद करके लेकिन हर हाल में मीठी बातें करके अपने पति या प्रेमी को अपनी बातें मानने को लगभग विवश कर देती है उसी प्रकार साहित्य भी अपने पाठक पर साहित्यिक आस्वाद के जादू चलाता है। यदि विशुद्ध रूप से मनोरंजनपरक उपन्यासों को छोड़ दिया जाय तो हम पाते हैं कि आरम्भिक दौर के लगभग हर उपन्यास में उपदेशात्मकता का एक कोण होता है। 'भाग्यवती', 'परीक्षागुरु', 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'धूर्त-रसिकलाल', 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' आदि उपन्यासों में इस तरह के तत्त्वों की स्पष्ट पहचान की जा सकती है।

उपदेश की प्रवृत्ति को यह कह कर ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि यह साहित्य के स्वभाव के अनुकूल नहीं है। यह एक प्रकार से हाथ पकड़ कर चलाने की प्रक्रिया भी है। किसी नयी विधा के साथ यह भी होता है कि उसके पाठक इतने परिपक्व नहीं होते कि रचना के भीतर के सच को समझ सकें। ऐसे में शिक्षक के रूप में लेखक का आना एक आवश्यक बुराई होता है। प्रेम रस में डूबा प्रेमी तो प्रेमिका के शब्दों के संवेगात्मक अर्थ समझ सकता है जिसके लिए शब्द से अधिक मनोभाव महत्त्वपूर्ण होते हैं। जिसके हृदय में अभी प्रेम का संचार नहीं हुआ उसके लिए जैसे प्रेम-गुरू की जरूरत होती है वैसे ही उपन्यास के नए पाठकों को उपन्यासकार के उपदेशक रूप की आवश्यकता थी। हिन्दी उपन्यास का पाठक अभी इस दशा में नहीं पहुंचा था कि उपन्यास के कांता सम्मित भाव को जान सके। ऐसे में उपदेश की प्रवृत्ति भी उसका मार्गदर्शन करने या उसे भटकने से रोकने के लिए जरूरी जान पड़ती है। कांता सम्मित उपदेश का तात्पर्य सर्वदा सीधे पाठक को संबोधित उपदेश से ही सीमित करके नहीं समझा जाना चाहिए। कई बार पाठक इस तरह की स्थिति में नहीं होते कि उनसे सीधे संवाद किया जा सके और उस लेखकीय अभीष्ट को उनके मनोजगत में प्रेषित किया जा सके। इसलिए साहित्यकार यह भी काम करता है कि वह जनता के प्रतिनिधियों तक अपनी बात पहुँचा देता है और बाकी की जिम्मेदारी उन पर छोड़ देता है। ये प्रतिनिधि किस तरह अपनी बात जनता तक पहुँचाते हैं, यह अब उनके कौशल और तकनीक पर निर्भर करता है। दरअसल इस तरह की स्थिति उस अन्योन्याश्रित समाज व्यवस्था की ओर इशारा करती है जिसका मूल सूत्र यही है कि समाज के हर घटक एक दूसरे से गहरे स्तर पर संबद्ध होते है और जब परिवर्तन या सुधार की प्रक्रिया घटित होती है तो वह हर किसी पर अपना प्रभाव या असर डालती है। इसके प्रभाव से कोई अछूता नहीं रहता है। जब समाज इस तरह की संक्रमण की स्थिति से गुजर रहा हो तब समाज के हर प्रबुद्ध वर्ग का यह

दायित्व बनता है कि वे परस्पर मिलजुल कर काम करें और समाज को आगे ले जाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करें।

बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों के संदर्भ में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति को समझा जा सकता है। जहाँ उपदेश मनोविज्ञान की प्रक्षेपण विधि की तरह है जिसके सहारे पाठक को एक ही घटना के अलग-अलग प्रबलनों के माध्यम से उसके प्रभाव की जानकारी दी जाती है। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' व 'सौ अजान एक सुजान' उपन्यासों में घटनाएँ इसी रूप में घटित होती हैं। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की उपदेश प्रवृत्ति के पीछे दो मुख्य कारण थे, एक तो शिक्षक के रूप में उपन्यासकार की भूमिका और दूसरा उपन्यास के पश्चिमी ढाँचे के साथ भारतीय कथा-आख्यायिका को जोड़ना। इसे चाहे तो उपन्यास की भारतीय अवधारणा भी कहा जा सकता है। यह सच है कि उपदेश भारतीय कथा विधान का एक विशेष हिस्सा है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की उपदेश प्रवृत्ति को इन दोनों ही रूपों में देखने-समझने की आवश्यकता है। साहित्य की उपदेश प्रवृत्ति को नरेंद्र कोहली आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में इस प्रकार देखते हैं –"यह स्वीकार कर लेने पर कि जो कार्य समाचार-पत्र और भाषण से नहीं हो सकता, वह साहित्य से हो सकता है। उसके कारण का ज्ञान भी अपेक्षित है। समाचार पत्र और भाषणशास्त्र गुरु तथा पिता के समान उपदेश देते हैं, साहित्य का उपदेश कांता सम्मित है। कांता अपने रूप, यौवन तथा प्रेम के आकर्षण से व्यक्ति को द्रवित कर ऐसी मन:स्थिति में ले आती है जिसमें वह उपदेश की कड़वाहट का अनुभव ही नहीं करता और उसके कथन को सहज ही स्वीकार कर लेता है।"[1]

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ 34

4. इतिहास और फंतासी

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की ऐतिहासिकता इतिहास का विश्लेषण कर पाठक को इतिहास का नया सच दिखाने की नहीं अपितु उसे कल्पना के सहारे मनोरंजन प्रदान करना है। रामचंद्र तिवारी के मतानुसार "प्रेमचंद-पूर्व के ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि ये सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। लेखकों की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय कथाओं, विलास-लीलाओं, रहस्य प्रसंगों तथा कुतूहलवर्द्धक घटनाचक्रों की कल्पना में लीन हो जाती है। वे कल्पना से अधिक कार्य लेते हैं, ऐतिहासिक छानबीन कम करते हैं। अतीत उनकी मुक्त कल्पना की उड़ान के लिए सुविधा प्रस्तुत करता है और वे इतिहास की चिंता छोड़कर पाठकों के चित्त का रंजन करने वाली कथाधारा में बह जाते हैं। इसीलिए इस युग में उत्तम कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गये।"[1]

यद्यपि इतिहास का विश्लेषण करना उपन्यासकार का काम न होकर इतिहासकार का काम है परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की घटनाओं का साहित्यिक पक्ष, इतिहास और कल्पना के मेल से बनता है। इसलिए रामचन्द्र तिवारी की नजर में जो 'सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है' उन्हें फिर क्या नाम दिया जाये? क्या उन्हें ऐतिहासिक फंतासी कहा जा सकता है? फंतासी में यथार्थ से महत्त्वपूर्ण कल्पना बन जाती है जो यथार्थ ही हो, के स्थान पर यथार्थ जैसा लगने की 'थीम' पर अधिक आधारित होती है। इस कोटि के आरम्भिक हिन्दी उपन्यास ऐतिहासिक फंतासी के रूप में देखे जायें तो उनके साहित्यिक महत्त्व के साथ ऐतिहासिक महत्त्व का संकट पैदा

[1] रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ 155

नहीं होगा और आलोचकों के ऐतिहासिक 'विजन' के कोप से भी उनकी रक्षा हो जायेगी।

प्रत्येक युग का साहित्य समाज से ही अपने लिए सामग्री चुनता है और समाज को ही संबोधित होता है। किसी भी समाज का इतिहास वह नींव होती है जिस पर उस समाज का वर्तमान अवस्थित होता है। कहने को तो इतिहास में हम बीत चुकी बातों का जिक्र या अध्ययन करते हैं लेकिन इतिहास में एक तत्त्व निरन्तरता का भी होता है। हर समाज के इतिहास में अपनी सुविधा के लिए जानकार या अध्येता विद्वान् कुछ सीमाओं और कालखण्डों का विभाजन करते हैं। यह विभाजन अध्ययन को व्यवस्थित बनाने के लिए किया गया एक मानवीय प्रयास मात्र है। दरअसल इतिहास में कोई भी स्पष्ट विभाजन किया ही नहीं जा सकता। इतिहास न तो अचानक समाप्त हो जाता है और न ही किसी समाज का इतिहास अचानक से शुरू होने वाली चीज है। इतिहास की निरंतरता उसकी अपनी एक पहचान है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन चीजों को हम इतिहास की चीज जानकर पढ़ते और देखते हैं, बहुत संभव है कि उसके कुछ तत्त्व हमारे समाज में आज भी उपस्थित हो और होते भी हैं। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में इस प्रकार के उपन्यासों की एक धारा है जो कि ऐतिहासिक विषयों को केंद्र में रखकर लिखे गये हैं। इनके वर्ण्य विषय की भूमि इतिहास के किसी काल खंड से घोषित रूप से सम्बद्ध है। इस तरह की रचना में इतिहास एक पृष्ठभूमि की तरह आता है, जिसे केंद्र में रखकर उपन्यास का सृजन किया जाता है।

ऐतिहासिक विषयों को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यास भी समकालीन समाज और समकालीन उसके सरोकारों को संबोधित होते हैं। इस तरह की रचनाओं से समकालीन समाज का दखल प्रकारांतर से होता है। यहाँ यह बात याद रखना जरूरी है कि रचनाकार पृष्ठभूमि भले ही इतिहास की रखता है लेकिन वह वर्तमान की अनदेखी नहीं कर सकता है। उसके चयन के निर्णायक

कारणों में वर्तमान की सामाजिक अवस्थिति का महत्त्वपूर्ण अवदान होता है। इतिहास किसी रचना के निर्माण में किस हद तक योगदान कर सकता है यह भी एक विचार का विषय है। यदि इतिहास की घटनाओं का ज्यों का त्यों ही लेखन करना हो तो ऐतिहासिक उपन्यास लेखन का क्या तात्पर्य? इस तरह के लेखन और इतिहास लेखन में फर्क करने और समझने की जरूरत है। इस मोड़ पर आकर ही कल्पना की अनिवार्यता महसूस होती है। दरअसल कल्पना वह ताकत है जो किसी ऐतिहासिक रचना के साहित्यिक तत्त्व को जिन्दा बनाये रखने का काम करती है। साहित्य की इस ताकत या जरूरी उपादान की ओर इशारा करते हुए नरेंद्र कोहली लिखते हैं "साहित्य में कल्पना सदा ही अनिवार्य तत्त्व के रूप में ग्रहण की गई है : काव्य के तीन मुख्य उपादान होते हैं - बुद्धि तत्व, रागात्मक तत्व और कल्पना तत्व अर्थात मन में जिस चीज का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे वह अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय चक्षु के सामने वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। - - - किन्तु सामान्यत: उपन्यास में उसको इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता कि उसे उपन्यास की आत्मा ही स्वीकार कर लिया जाय। कथानक निर्माण में कल्पना अनिवार्य तो है, किन्तु उसे उपन्यास का मूल तत्त्व किसी भी विद्वान् ने स्वीकार नहीं किया"।[1]

फंतासी का आधार ही कल्पना होती है। ऐतिहासिक उपन्यास भी कहीं न कहीं फंतासी का सहारा लेते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों का फंतासी वाला भाग ही पाठक की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इतिहास का आधार लेकर लिखे गये उपन्यास इसीलिए इतिहास नहीं होते हैं वे इतिहास का साहित्यिक प्रयोग होते हैं। इतिहास में से साहित्य की जो संभावना तलाशी जाती है वह फंतासी के सहारे ही पाठक तक पहुँचती है। इस दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को ऐतिहासिक

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ 8

फंतासी की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में इतिहास रहता है जिसके कारण उन्हें ऐतिहासिक उपन्यासकार कहा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक फंतासी का अंतर भी जान लेना जरूरी है। ऐतिहासिक उपन्यास का आधार कोई ज्ञात इतिहास की घटना होती है। उपन्यासकार इतिहास के मूल को बिना तोड़े-मरोड़े साहित्य की सम्भावना तलाशता है। पाठक इतिहास के सहारे ही उपन्यासकार की कल्पना प्रसूत घटना या 'विजन' को ग्रहण करता है। यानि कल्पना तो होती है परन्तु वह इतिहास के ज्ञात सत्य के विरोध में न होकर इतिहास की घटनाओं के भीतर से निकलती है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास लिखना एक कठिन कार्य है। ऐतिहासिक उपन्यासकार में इतिहासकार और साहित्यकार दोनों के कौशल की अपेक्षा रहती है जो सरल नहीं हैं। एक अतीत की बात करता है तो दूसरा संभावनाओं की सर्जनात्मक कल्पना की। सबसे बड़ी चुनौती तो इतिहास की घटनाओं के चयन को लेकर रहती है क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासकर हर किसी घटना के सहारे उपन्यास नहीं लिख सकता है। वह उन्ही घटनाओं का चयन करता है जिसमें कल्पना की सम्भावना हो और कल्पना इतिहास के सत्य के विरुद्ध भी न जान पड़े। जिस प्रकार श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"[1] ठीक उसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास भी ऐतिहासिक घटनाओं की काल्पनिक और सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। अगर हम ऐतिहासिक फंतासी वाले उपन्यासों की बात करें तो सबसे बड़ा अंतर यही है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास होता है जबकि ऐतिहासिक फंतासी में इतिहास जैसा होता है, इतिहास नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास से कल्पना की ओर बढ़ता है जबकि ऐतिहासिक फंतासी में कल्पना के सहारे काल्पनिक इतिहास गढ़ लिया जाता है। ऐतहासिक फंतासी कल्पना के भीतर कल्पना है। पाठकीय दृष्टि से देखा जाये तो ऐतिहासिक उपन्यास में पाठक

[1] श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृष्ठ 99

ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ता है जबकि ऐतिहासिक फंतासी में अज्ञात को ही ज्ञात मान कर रसास्वादन करता है। इस दृष्टि से देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' उपन्यास ऐतिहासिक फंतासी है। पाठक, लेखक की फंतासीमय कल्पना को इतिहास की घटना मानकर ही उपन्यास का आस्वादन करते है। उपन्यास के पात्र सुरेन्द्र सिंह – वीरेंद्र सिंह पाठक की दृष्टि में उसी फंतासीमय काल्पनिक इतिहास के पात्र बन जाते हैं।

जब उपन्यास लेखन का विषय इतिहास हो तब कुछ लोगों की यह मान्यता हो सकती है कि वहाँ कल्पना का क्या प्रयोजन लेकिन विद्वान् यह भी मानते हैं कि भले ही उपन्यासकार ऐतिहासिक की घटनाओं के आधार पर रचना कर रहा हो परन्तु उसे अपनी रचना में तारतम्यता लाने के लिए अनिवार्य रूप से कल्पना की शरण में जाना पड़ेगा। फंतासी की बात की जाए तो फंतासी तो पूरी तरह से कल्पना के मैदान में ही खेलती है। उपन्यास भले ही इतिहास की घटनाओं पर आधारित हों लेकिन बिना कल्पना के सहारे रचनात्मक पक्ष का पूरी तरह निर्वाह नहीं हो सकता। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का हवाला देते हुए उन्हीं की शब्दावली उधार लेते हुए नरेन्द्र कोहली लिखते हैं - "'उपन्यास का जंजाल' स्पष्टत: इन तथ्यों की ओर संकेत करता है कि उपन्यास का आधार चाहे इतिहास ही क्यों न हो, उसे उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसमें औपन्यासिक तत्त्व अनिवार्य है और इसी औपन्यसिकता को ही उपन्यास के जंजाल की संज्ञा दी है। औपन्यासिकता तथ्य को उपन्यास से पृथक करने वाला वह गुण है, जिसका प्रयोग उपन्यासकार कथानक निर्माण में करता है। अत: हम सुविधापूर्वक यह स्वीकार कर सकते हैं कि किशोरीलाल गोस्वामी उपन्यास में कथा (घटना) की स्वीकृति तो देते ही हैं, उसमे उपन्यासकार की कल्पना का प्रयोग कर उसके उपन्यास योग्य कथानक-निर्माण को भी मान्यता प्रदान करते हैं। उस काल में कथानक में औत्सुक्य तथा जिज्ञासा को प्रधानता प्राप्त थी, अत:

किशोरीलाल गोस्वामी भी कथानक का निर्माण औत्सुक्य-तत्त्व के आधार पर ही करते हैं।"[1]

यह उदाहरण ऐतिहासिक लेखन में कल्पना के विविध स्वरूप को स्पष्ट करता है पाठकों को आगाह करता है कि जब वे इस तरह की किसी कृति का आस्वाद ले रहे हों तो उनका नजरिया क्या होना चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के क्रम में उपन्यासकार कई बार अपने रचनाकर्म की अनिवार्यताओं के निर्वहन के लिए महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों की अनदेखी भी करता है। कई बार वह ऐसी चीजों को प्रस्तुत करता है जिनका की कोई ऐतिहासिक वजूद होता ही नहीं है। वे स्पष्ट करते हैं कि यह तो उपन्यास के जंजाल की आवश्यकता है कि उन्हें इतिहास में इस तरह के बारीक हेरफेर की जरूरत हुई अन्यथा इतिहास इससे थोड़ा भिन्न है। इतिहास आधारित रचनाओं में भी रचनाकार के लिए भाषा के स्तर पर और चरित्रों की प्रवृत्तियों के स्तर पर थोड़ी बहुत कल्पना की गुंजाइश तो बनती है। इस कल्पना का क्षेत्र सीमित है, एक सीमा के बाद इतिहास यह इजाजत नहीं देता कि उपन्यासकार उसके ढाँचे से छेड़छाड़ कर सके। इस संदर्भ में रचनाकार को अपनी सीमाओं और इतिहास की मर्यादाओं का ख्याल रखना पड़ता है। यदि कोई रचनाकार इन मर्यादाओं का उल्लंघन करता है तो पूरा का पूरा श्रम पानी में चला जाता है। ऐतिहासिक विषयों को अपने लेखन का आधार बनाने वाले उपन्यासकार शर्तों की इस दोधारी तलवार से बखूबी परिचित थे। किशोरीलाल गोस्वामी के संदर्भ में नरेंद्र कोहली लिखते हैं- "सामाजिक अथवा तिलिस्मी ऐयारी उपन्यासों में उपन्यासकार अपनी इच्छानुसार कल्पना का प्रयोग कर सकता है। अत: कथानक निर्माण अधिक दुष्कर नहीं होता। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास में यह कठिनाई उपस्थित होती है। किशोरीलाल गोस्वामी ने इस कठिनाई का साक्षात्कार कर इतिहास एवं

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ 7

ऐतिहासिक उपन्यास का अंतर स्पष्ट किया है, "जैसे - - - 'इतिहास की मूल भित्ति सत्य' है, वैसे ही 'उपन्यास की मूल भित्ति कल्पना' है। सत्य घटना बिना जैसे इतिहास इतिहास नहीं, वैसे ही 'योग्य कल्पना' बिना उपन्यास भी उपन्यास नहीं कहला सकता। इतिहास में जैसे 'वास्तविक घटना' बिना काम नहीं चलता, वैसे उपन्यास में भी कल्पना का आश्रय लिए बिना प्रबंध नहीं लिखा जा सकता। ऐसी अवस्था में 'ऐतिहासिक' उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के सत्यांश के साथ तो कल्पना की थोड़ी आवश्यकता भी पड़ती है पर जहाँ इतिहास की घटना जटिल, सत्याभास मात्र और कपोल कल्पित भासती है वहाँ लाचार हो इतिहास को बाधित कर कल्पना ही अपना पूरा अधिकार फैला लेती है"।[1]

इतिहास और कल्पना का इस तरह का समुचित विलयन ही किसी रचना को सार्थक बना सकता है। इस विलयन का संतुलन न साधने की स्थिति में सारा परिश्रम व्यर्थ जा सकता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में इतिहास का सच कल्पना और मनोरंजन की दृष्टि से दबा रह गया। यही कारण है कि इस युग के उपन्यास ऐतिहासिक फंतासी का रूप लिए हैं। विशुद्ध ऐतिहासिक पुस्तक भी अतीत का 'लाइव' प्रसारण कभी नहीं हो सकती है। इतिहासकार भी अपनी विचारधारा के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या करता हुआ इतिहास लिखता है। हम कह सकते हैं कि इतिहास अपने संघटन में कल्पना का अवसर देता है जिसका प्रमाण है कि ऐतिहासिक वृत्तांतों पर उपन्यास लेखन साहित्य की एक मुख्य विधा है।

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ 7

5. यथार्थ

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियों का सैद्धांतिक विवेचन करने के क्रम में इन उपन्यासों में अभिव्यक्त यथार्थ के पक्ष पर बात करना आवश्यक है। साहित्य में यथार्थ का पहलू इससे पहले इतने प्रभावी रूप में नहीं आया था। काव्य सृजन के क्षेत्र में कल्पना की उड़ान की असीम संभावनाएं होती हैं। संस्कृत में भी जो गद्य साहित्य लिखा गया वह बहुत ही सीमित स्तर पर यथार्थ की जमीन पर उतरता है। किसी भी विधा में यथार्थ की बात तब तक ज्यादा प्रभावी और विश्वसनीय तरीके से नहीं कही जा सकती जब तक उस विधा में रचनाकार अपने ततत्कालीन समाज और परिवेश की बात न करे।

इतिहास आधारित रचनाओं में चाह कर भी यथार्थ की अभिव्यक्ति एक सीमा से अधिक नहीं हो सकती। किसी न किसी स्तर पर रचनाकार को कल्पना का आश्रय लेना ही पड़ेगा जैसे ही रचनाकार कल्पना का आश्रय लेगा रचना यथार्थ से दूर हो जाएगी। यथार्थ का चित्रण कई स्तर पर चुनौती भी खड़ा करता है। यथार्थ का सीधा सा तात्पर्य सत्य से है। जब रचनाकार अपनी रचना के माध्यम से तत्कालीन समाज का सच सामने लाता है तब वह समाज के यथार्थ को अभिव्यक्त करता है। समाज के यथार्थ चित्रण करने वाली विधाएं तो और भी है। ऐसे में उपन्यास के कलेवर में सामाजिक यथार्थ का अंकन किसी चुनौती से कम नहीं है। यदि रचनाकार इस तरह की रचना करे जिसमें तत्कालीन समाज का हूबहू चित्रण मिले, जिसमें तत्कालीन समाज की समस्याओं और चुनौतियों की बात की गयी हो तो क्या इस तरह की रचना पत्रकारिता के नजदीक नहीं आ खड़ी होगी। यदि किसी उपन्यास में इस तरह के तत्त्व हावी होने लगे तो उस उपन्यास को कहाँ तक उपन्यास कहना उचित होगा। इस पर भी विचार होना चाहिए।

साहित्य के सच और पत्रकारिता के सच के भेद को समझने की आवश्यकता है। निश्चित रूप में दोनों के सत्य की मूलभावना एक होती है। दोनों ही समाज का दिग्दर्शन करना चाहते हैं। लेकिन दोनों के रास्ते में एक आवश्यक फर्क होगा। यह फर्क साहित्यिक गुणों का फर्क होगा। इसी बिंदु पर यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि कब यथार्थ, साहित्यिक सत्य में बदलता है। कब साहित्यिक सत्य, शुभ में बदलता है और कब शुभ, आदर्श में तब्दील हो जाता है। ये उत्तरोत्तर परिवर्तन क्रमिक जरूर लग सकते हैं लेकिन यथार्थ से आदर्श की इस यात्रा में बहुत कुछ बदल जाता है। यथार्थ और आदर्श में बहुत फर्क आ जाता है। यही फर्क पत्रकारिता और उपन्यास लेखन का है। पत्रकरिता में यथार्थ अंत तक यथार्थ ही रहता है जबकि साहित्य या यूँ कहें कि उपन्यास में यथार्थ आदर्श में समाहित हो जाता है। यथार्थ से चलते हुए आदर्श तक की बात तो की जा सकती है लेकिन यथार्थ तो आदर्श नहीं होता। यानि साहित्य लेखन दो विपरीत परिस्थितियों को साधने की कला है। जो इसमें जितना अधिक सफल होता है वह उतना ही बड़ा लेखक होता है। आदर्श तो एक प्रकार की परिकल्पना ही है। यथार्थ से आदर्श तक की इस यात्रा में विश्वसनीयता को बनाये रखना ही उपन्यास लेखन का कौशल है। इसी कौशल के आधार पर गोपाल राय उपन्यास को परिभाषित करते हैं – "इस प्रकार यदि हम उपन्यास को उसकी अल्पतम मांग के साथ परिभाषित करने का प्रयास करें तो हम कह सकते हैं कि उपन्यास पर्याप्त आकार की वह मौलिक गद्यकथा है जो पाठक को एक काल्पनिक, पर यथार्थ संसार में ले जाती है, जो लेखक द्वारा व्यक्तिगत रूप से अनुभूत और सर्जित होने के कारण नवीन होता है।"[1]

सत्याभास अथवा यथार्थ-सदृश प्रतीत होना ही कला है, अत: उपन्यासकार नित्यप्रति की घटनाओं को कला के आवरण में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 24

पाठक कल्पना की सृजनात्मकता और यथार्थ के आग्रह की विश्वसनीयता में विरोध महसूस नहीं करता है। उपन्यासकार अपनी कला का प्रयोग कल्पना के माध्यम से या तो यथार्थ घटनाओं में परिवर्तन करता है या घटनाओं के संगुफन में से विजन की तलाश करता है। यथार्थ घटनाओं का कुशल संगुफन ही कथानक निर्माण का मूल मन्त्र है। स्पष्टत: गहमरी जी का अभिप्राय यह है कि "यदि घटनाओं अथवा कथा को यथावत रूप में चित्रित किया जाय तो उस पर कला का आवरण नहीं होगा, तब वह समाचार-पत्र, डायरी, खोज-रिपोर्ट, इतिहास कुछ भी हो सकता है, किन्तु वह उपन्यास नहीं होगा और जब उन्हीं घटनाओं में अपनी कला का प्रयोग कर, उसको सुंदर कथानक रूप में ढालकर उसे लेखनी बद्ध किया जाएगा तो वह उपन्यास होगा। अत: उपन्यास मे कथानक-निर्माण का महत्त्व सर्वाधिक है।"[1]

नरेंद्र कोहली ने गोपालराम गहमरी की उपन्यास विषयक अवधारणा पर बात करते हुए सच से आदर्श तक की साहित्यिक प्रवृत्ति का विवेचन किया है। उपन्यास में यथार्थ का वर्णन समाचार, डायरी और रिपोर्ट के वर्णन से सर्वथा भिन्न होगा। लेकिन इस स्तर पर भी भिन्न नहीं होगा कि पाठक उसकी प्रामाणिकता पर ही संदेह करने लगे। यहाँ नरेंद्र कोहली ने गोपालराम गहमरी के उपन्यासों में औपन्यासिक प्रतिमानों के आधार पर यथार्थ की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को खासा महत्त्व दिया है यह प्रवृत्ति गोपालराम गहमरी के अलावा भी शुरूआती दौर के अन्य उपन्यासकारों में भी देखने को मिलती है। इस दृष्टि से मेहता लज्जाराम शर्मा और भुवनेश्वर मिश्र का नाम लिया जा सकता है। भुवनेश्वर मिश्र के 'घराऊ घटना' (1893) और 'बलवंत भूमिहार'(1896) में यथार्थ अपने खांटी देसी रूप में सामने आता है। यद्यपि 'घराऊ घटना' एक प्रकार से रीति रिवाजों के यथार्थ अंकन का उपन्यास बन कर रह जाता है। यथार्थ की झोंक में उपन्यास कि सृजनात्मकता कमजोर हुई

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ 12-13

है फिर भी रीतिरिवाजों को साहित्यिक गद्य कथा का रूप देने का प्रयोग और प्रयास इस उपन्यास को विशेष बनाता है। मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'धूर्त-रसिकलाल' तथा 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में यथार्थ अपने समाज सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान अवधारणा की साथ आता है। मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास उपनिवेशवादी राजनीतिक यथार्थ को भी अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से नवजागरण का राजनीतिक प्रभाव सबसे पहले इनके उपन्यासों में मुखरित होता है।

यथार्थ की अनिवार्यता और आवश्यकता के बाद भी साहित्य में कल्पना को एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह सवाल एक सिक्के के दो पहलू की तरह बार-बार सामने आता है कि यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ रचना में कल्पना के लिए कितना और कैसा अवकाश होता है। जब हम एक पहलू देख रहे होते हैं तो उस समय दूसरा पहलू आँखों से ओझल रहता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि दूसरे पहलू का कोई अस्तित्व नहीं है। दरअसल कल्पना ही वह शक्ति है जो साहित्य में प्राण तत्त्व का संचार करती है। बिना कल्पना के साहित्य में जीवन नहीं आ सकता। साहित्य की साहित्यिकता के लिए कल्पना एक अनिवार्यता है। लेकिन ऐसे साहित्य में जिसमें यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली हो उसमें कल्पना के घोड़े पर एक विशेष तरह का अंकुश काम करता है। उसे बेलगाम चौकड़ी भरने की इजाजत नहीं होती।

कल्पना की साहित्यिक अनिवार्यता और आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में यथार्थ की अभिव्यक्ति के संदर्भ में उसकी प्रवृत्ति पर बात करते हुए नरेन्द्र कोहली लिखते हैं "साहित्य में कल्पना सदा ही अनिवार्य तत्त्व के रूप में ग्रहण की गई है काव्य के तीन मुख्य उपादान होते हैं - - - बुद्धि तत्त्व, रागात्मक तत्त्व और कल्पना तत्त्व अर्थात मन में जिस चीज का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे वह अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के ह्रदय चक्षु के सामने वैसा ही

चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु सामान्यत: उपन्यास में उसको इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता कि उसे उपन्यास की आत्मा ही स्वीकार कर लिया जाए। कथानक निर्माण में कल्पना अनिवार्य तो है, किन्तु उसे उपन्यास का मूल तत्त्व किसी भी विद्वान ने स्वीकार नहीं किया"।[1] नरेंद्र कोहली का यह विवेचन आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में नहीं अपितु सभी तरह के साहित्य के संदर्भ में कल्पना और यथार्थ के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को समझने में मदद करता है। यहाँ कल्पना और यथार्थ एक दूसरे पर निर्णायक असर डालने वाले कारक नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। अतिआवश्यक तथ्यों की रिक्तता को कल्पना बड़ी ही खूबसूरती से भर देती है। इस क्रम में यथार्थ की अपनी यात्रा भी खंडित नहीं होती। साहित्य में कल्पना और यथार्थ वह मिलन बिन्दु है जहाँ साहित्य समाचार पत्र या रिपोर्टिंग से अलग हो जाता है। गोपालराम गहमरी उपन्यास को अपने समय के सच्चे इतिहास के रूप में देखते हैं। इस संदर्भ में उनका मानना यह है कि वास्तविक इतिहास लेखन पर दबाव निर्माण करने वाली शक्तियाँ साहित्य पर उस तरह का प्रभाव नहीं डालती इसलिए कुछ संदर्भों में साहित्य किसी समाज का ज्यादा विश्वसनीय इतिहास दर्ज करता चलता है। वह जिस समाज और परिवेश की कथा कहने जा रहा है उसके बारे में उसे पूरी जानकारी होनी अत्यावश्क है। बिना पूरी जानकारी के कोई भी उपन्यासकार अपनी रचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। यहाँ गोपालराम गहमरी के इस उदारण के माध्यम से भी हमें आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति का परिचय होता है। गहमरी जी ने इस बात पर जोर दिया है कि उपन्यासों में दैनिक जीवन के क्रियाकलाप घटनाओं के रूप में आने चाहिए। समसामयिक घटनाएँ उपन्यासों की विषय वस्तु बननी चाहिए लेकिन इन सब के साथ उपन्यासों की साहित्यिकता को भी बचाए रखा जाना चाहिए। यथार्थ चित्रित करने की धुन में उन्हें समाचार या रिपोर्ट नहीं बना देना

[1] नरेंद्र कोहली, हिन्दी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, पृष्ठ 8

चाहिए। यथार्थ के विविध रूप में यह भी चर्चा का एक मुद्दा बनता है कि रचना के घटना और चरित्र के यथार्थ के चित्रण में किसे ज्यादा तवज्जो देनी चाहिए या फिर किस रचनाकार ने किसे ज्यादा तवज्जो दी है। क्या हर तरह की रचना के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि घटना और चरित्र प्रायः एक दूसरे के पूरक रूप में ही आते हैं। यह सत्य है कि हर रचनाकार की अपनी कुछ विशिष्ट शैली होती है। कोई रचनाकार घटना को ज्यादा तवज्जो देता है और किसी घटना की 'डिटेलिंग' के माध्यम से यथार्थ का चित्र खींचता है जबकि ऐसे भी रचनाकार हैं जो घटना के स्थान पर चरित्र पर ज्यादा फोकस करते हैं और चरित्रों को ही कुछ इस तरह से उभारते हैं कि सुधी पाठक जन के समक्ष यथार्थ आ खड़ा होता है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास सामाजिक यथार्थ को बड़े सुंदर ढंग से प्रस्तुत करते हैं। लज्जाराम के उपन्यास सांस्कृतिक संकट को अंग्रेजी संस्कृति के अन्धानुकरण से उपजा संकट बताते हैं और सुधारवादी यथार्थ दृष्टि से समाज को यथार्थ से अवगत कराते हैं। 'धूर्त-रसिकलाल' ऐसी ही यथार्थवादी सोच का उपन्यास है, जिसमें 'ध्वजभंग' के नाम से एड्स जैसी बीमारी का बड़ा स्पष्ट वर्णन उपन्यासकार ने किया है। विलासिता के अप्राकृतिक यौनाचार के रूप में गुदा मैथुन को अंग्रेजी सभ्यता से जोड़ उपन्यासकार ने समाज को भटकाव से सचेत किया है- "अस्तु महताब के बिना आपका मन न लगता जानकर मैं आपके लिए आज एक नवीन माल लाया हूँ। स्त्रियों की अपेक्षा लड़कों से प्यार करने में अधिक आनंद है - - - महताब जब तक नहीं आई सेठ ने लड़के से अपना सिर फोड़ा। इस कुकर्म के करने से सोहनलाल को ध्वजभंग हो गया।" [1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का यथार्थवादी पक्ष उनके ऐतिहासिक, उपदेशात्मक और मनोरंजन से अधिक प्रयोजनीय और सौद्देश्यपरक था। इस

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, धूर्त-रसिकलाल, पृष्ठ 51-52

दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यास, उपन्यास की भारतीय अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका यथार्थवाद भारतीय समाज और संस्कृति की अभिव्यक्ति का आधार। जिस बात को परमानंद श्रीवास्तव अपनी उपन्यास सम्बन्धी विवेचन की पुस्तक 'उपन्यास का पुनर्जन्म' में उपन्यास की भारतीयता के संदर्भ में उठाते हैं उसके संकेत आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी प्रवृत्ति में मिलते हैं। यद्यपि परमानंद श्रीवास्तव का विवेचन आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में नहीं है परन्तु वे जिन उपन्यासों के आधार पर कह रहे हैं उन उपन्यासों का आधार तो यही आरम्भिक हिन्दी उपन्यास हैं। उनका मानना है कि "जड़ों की ओर लौटना हर हालात में पीछे लौटना नहीं है - अपनी संभावनाओं की ठीक-ठीक पहचान भी है। भारतीयता की पहचान भारतीय सांस्कृतिक संकट की पहचान भी है पर अमूर्तन तथा फंतासी ही उसके चित्रण की दिशाएं नहीं हैं - देशी विन्यास और मुहावरों में रचे-बसे सामाजिक आख्यान में भी उसकी समग्र पहचान तथा अभिव्यक्ति संभव है।"[1]

[1] परमानंद श्रीवास्तव,उपन्यास का पुनर्जन्म, पृष्ठ 8

चौथा अध्याय

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का प्रवृत्तिपरक विश्लेषण

1-समाज सुधार (देवरानी जेठानी की कहानी, वामाशिक्षक, भाग्यवती)

2-मनोरंजन (चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति)

3-उपदेश (परीक्षागुरु, श्यामास्वप्न, धूर्त-रसिकलाल, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, नूतन ब्रह्मचारी)

4-इतिहास और फंतासी (चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति)

5-यथार्थ (नि:सहाय हिन्दू, सौ अजान एक सुजान, घराऊ घटना)

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का प्रवृत्तिपरक विश्लेषण

पिछले अध्याय में हमने आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों के सैद्धांतिक पक्ष पर विचार किया। दूसरे अध्याय के उपशीर्षक 'आरम्भिक हिन्दी उपन्यास: विकास के सोपान' के सम्बन्ध में भी हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों के विकास को समझने का प्रयास किया गया। आरम्भिक हिन्दी उपन्यास भारतीय नवजागरण की लहर का गद्य में एक नए प्रयोग का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। ये उपनिवेशवादी मूल्यों से समन्वय और टकराहट दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं। इन उपन्यासों की प्रवृत्ति अंग्रेजी ढांचे के कथा विधान में भारतीय समाज की भारतीयता को पहचानने और भारतीय कथा-आख्यायिका के गल्प को यथार्थवादी मूल्यों से अनुप्राणित कर गद्य-साहित्य की सामाजिक सरोकारी भूमिका के रूप में देखा जा सकता है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का विकास अपनी सुधारवादी, उपदेशपरक, मनोरंजन, रोमानियत और यथार्थवादी प्रवृत्तियों के नए प्रयोग के साथ हुआ। ये उपन्यास कथा, शिल्प और 'विजन' में कभी अंग्रेजी ढंग की उपन्यास कला को साध रहे थे तो कभी उपन्यास की भारतीय जातीय परम्परा को। इन उपन्यासों का प्रवृत्तिपरक विश्लेषण इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है कि आरम्भ से ही हिन्दी उपन्यास, उपन्यास के पश्चिमी ढांचे की नकल बनने से बचने को लेकर अधिक सावधानी से आगे बढ़ा। अगर मोटे रूप में देखें तो समाजसुधार और मनोरंजन की प्रवृत्ति ही इन उपन्यासों में अधिक मुखरित हुई। यथार्थ के आग्रह के साथ रोमांस और उपदेश की प्रवृत्ति का ताना-बाना भी आरम्भिक उपन्यासों में खूब कसा गया, यह उस समय की मांग थी और उपन्यास को जनप्रिय बनाने में सहायक भी।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा के लिए ही किया जा सकता है क्योंकि न तो किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर इन उपन्यासों का वर्गीकरण संभव है और न ही ये प्रवृत्तियां एक दूसरे से

इतनी भिन्न हैं कि उपन्यासों की अलग अलग धाराएँ बनाकर इन उपन्यासों को परिभाषित किया जा सके। एक ही उपन्यास में कई प्रवृत्तियां अपनी विशिष्टता के साथ देखी जा सकती हैं। जैसे तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों में मनोरंजन और रोमांस की प्रवृत्ति का अद्‌भुत संयोग पाठक को रहस्य रोमांच के साथ भावों की गंभीरता से सराबोर भी करता है। इसी प्रकार जासूसी उपन्यास मनोरंजन के साथ घटनाओं के सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करते हुए पाठक को रोमांच के साथ नैतिकता का पाठ पढ़ाने का कार्य भी करते हैं।

हिन्दी उपन्यास का उद्भव समाज के संक्रमण दौर के साथ हुआ, जहाँ एक ओर पाश्चात्य सभ्यता के प्रशंसक भारतीय समाज के भीतर से निकल कर आधुनिकता के अगुवा बनने की होड़ में लगे थे वहीं दूसरी ओर अपनी परम्परा की पहचान को बनाए रखने के लिए इस कृत्रिम सभ्यता से सावधान रहने का स्वर भी उसके भीतर से ही निकल रहा था। परंपरा के नकार और स्वीकार को साधते हिन्दी उपन्यास पाठक के स्वतंत्र विवेक को विकसित कर रहे। उस समय के समाज के वस्तुसत्य को रेखांकित करते हुए वैभव सिंह लिखते हैं-"उन्नीसवीं सदी में स्थिति थोड़ी अलग बनी जहाँ आधुनिकता से परम्परा को काटने की नहीं बल्कि परम्परा का आधुनिकता से समायोजन तलाशने की कोशिश ऐसे लोगों द्वारा की गयी जो समाज में वर्ण-वर्ग और लिंगगत रूप से हमेशा ही फायदे में रहे हैं। ऐसे में इस दौर के साहित्य के प्रति सिर्फ क्रूर या करुण होने के दुराग्रही विभाजन को स्वीकारने का प्रश्न नहीं बल्कि उसकी जटिलताओं की परख करना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इस समय साहित्य अपने को किसी गंभीर सामाजिक जिम्मेदारी से जुड़ा पाता है और उस जिम्मेदारी को निभाने में उसकी सार्थकता भी तय होने लगती है। लेकिन यह साहित्य लेखन का एक अपरिपक्व दौर भी था क्योंकि इसमें व्यक्ति मन की अनगिनत जटिलताएं, अंतर्भाव और अंधकार में डूबे कोने भी रचनाकारों की

पकड़ से अछूते थे। सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि तो थी पर वह स्थूल थी वैसी ही सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति।"[1]

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों का व्यावहारिक विश्लेषण करते समय समाज और साहित्य के इस वस्तुसत्य को ध्यान में रखा जाना जरूरी है, तभी इस सत्य का उद्घाटन संभव हो सकता है कि क्यों हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों का स्वर सुधारवाद और मनोरंजन से आगे अधिकार भाव की ओर नहीं बढ़ पाया। इस सम्बन्ध में इन उपन्यासों के स्त्री सम्बन्धी विचार उस समय के समाज का ही यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करते हैं। जहाँ स्त्री की हीन दशा पर चिंता तो प्रकट की गयी है पर उसकी हीन दशा के लिए स्वयं उसे ही अधिक जिम्मेदार ठहरा दिया गया। उसे शिक्षा तो दी गयी पर वह शिक्षा अधिकार की नहीं पुरुष प्रधान समाज की सहूलियत के अनुसार पितृसत्ता के अधिकारवादी मूल्यों के अनुकूल थी।

उस समय का उपन्यासकार अधिकार की आड़ में स्त्री स्वच्छंदता के पाश्चात्य अशुभकारी परिणामों के प्रति अधिक सजग था। उसके सामने भारतीय समाज के परम्परागत मूल्यों की रक्षा की चिंता एक बड़ी चेतावनी थी। भले ही आज के बुद्धिजीवियों को उनके स्त्री-शिक्षा के सिद्धांत पुरुष की स्त्री के प्रति एक बौद्धिक चाल भर लगे परन्तु अधिकार से पहले सुधार का उनका फॉर्मूला भारतीय समाज की मानसिकता और उस समय की परिस्थितियों के अधिक अनुकूल था। यही कारण है कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपनी प्रवृत्तिगत विशिष्टताओं में तत्कालीन समाज को उपन्यास जैसी गद्य विधा के करीब भी ला रहे थे और साथ ही सामाजिक बदलाव के कारक की भूमिका भी निभा रहे थे। आरम्भिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों को इसी आलोक में समझे जाने की आवश्यकता है जो समाज के अंतर्द्वंद्व को साधती हुई सुधार, मनोरंजन, उपदेश, यथार्थ और रोमांस लिए चल रही थी। जिस प्रकार से तत्कालीन समाज आधुनिकता और परम्परा के मूल्यों के बीच गड्डु-मड्डु था वैसे ही उस दौर के हिन्दी उपन्यास भी इन प्रवृत्तियों में गड्डु-मड्डु हो गये। इसे चाहे

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास की आधुनिकता, पृष्ठ -20

उपन्यास के विधान की जटिलता कहा जाये या उपन्यास का सामाजिक यथार्थवाद, पर इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास अपनी प्रवृत्तिगत विशेषताओं के साथ पठनीय भी बना रहा और बदलाव का सूचक भी।

1.समाजसुधार

(देवरानी जेठानी की कहानी, वामाशिक्षक, भाग्यवती, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी)

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का स्वर सुधारवादी था। सुधारवाद को इस समय के उपन्यासों की मूल प्रवृत्ति कहा जा सकता है। हिन्दी के पहले उपन्यास की चर्चा में शुमार तीनों उपन्यासों ('देवरानी जेठानी की कहानी', 'भाग्यवती', 'परीक्षा-गुरु') का मुख्य प्रतिपाद्य सामाजिक सुधार ही है। सुधारवाद के इस उद्देश्य को आरम्भिक उपन्यास लेखकों ने बड़ी ईमानदारी से स्वीकार किया है। और उपन्यास के कवरपेज या भूमिका में वे इसका स्पष्ट संकेत पाठक के लिए पहले ही कर देते थे। हिन्दी के पहले उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870 ई) की भूमिका में पं० गौरीदत्त लिखते हैं - "स्त्रियों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गयी हैं सब अपने अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं,परन्तु मैंने इस कहानी को नए रंग ढंग से लिखा है। मुझको निश्चय है कि दोनों, स्त्री-पुरुष इसको पढ़कर अति प्रसन्न होंगे और बहुत लाभ उठायेंगे।"[1] (-प्रथम संस्करण की भूमिका –पृष्ठ 23.) इसी प्रकार मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यास 'धूर्त रसिकलाल' (1899 ई०) के कवरपेज पर लिखा "एक परम बोधजनक सामाजिक उपन्यास" उन्होंने अपने दूसरे उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899 ई०) के मुख्यपृष्ठ पर लिखा 'एक स्त्री-शिक्षा विधायक, बोधजनक सामाजिक उपन्यास'। 'वामा शिक्षक' (सन् 1872) की भूमिका में लेखक द्वय मुंशी ईश्वरीप्रसाद-मुंशी कल्याण राय ने लिखा है- "यह पुस्तक लड़कियों के लिए है इसलिए उस्को ऐसी सीधी बोली में लिखा है जिस्को हिन्दुओं की लड़कियाँ और स्त्रियाँ बेरोक समझ सकती हैं और उनकी प्रतिदिन की बोलचाल ऐसी होती है जैसी इस पुस्तक में

[1] पंडित गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, भूमिका

है। यद्यपि यह पुस्तक हिन्दुओं की लड़कियों को लाभ पहुँचाने की नियत से बनाई गयी है पर उस्के आशय ऐसे हैं कि जिनके पढ़ने से लड़के भी सुशील होंगे।"[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने उपन्यास 'भाग्यवती'(सन् 1877 ई०) की भूमिका में भी इसी सुधारवादी उद्देश्य को स्पष्ट किया है– "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूं कि जिसके पढ़ने से भारतखण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ –धर्म की शिक्षा प्राप्त हो, क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी लिखी तो होती हैं, परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बरत व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती।"[2] ये उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में नवजागरण के भारतीय मूल्यों के सुधारवादी चरित्र को कितना महत्त्व दिया गया। स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित इस सुधारवाद को वैभव सिंह ऐसे देखते हैं- " स्त्री-शिक्षा का मुद्दा ऐसे शिक्षित पुरुष वर्ग के बीच से निकल कर आया था जो बंगाल से लेकर पंजाब तक नए स्कूल-कॉलेज, मदरसों या घर में अनौपचारिक पढ़ाई के जरिए शिक्षा का प्रसार करते हुए स्त्रियों के नए व्यक्तित्त्व की रूपरेखा खींच रहा था। परिवार में स्त्री की हैसियत पर विचार किये बगैर उसके लिए नई-नई भूमिकाएं और अपेक्षाएं प्रस्तावित की जा रही थी।"[3] सुधारवाद के इस प्रारूप में स्त्री के लिए अधिक स्वतंत्रता का अवसर नहीं था। यह पितृसत्ता के मूल्यों के अधीन का ही सुधारवाद था। स्त्री को बार- बार पश्चिमी ढंग की 'मेमसाहब' बनने से रोकने की हिदायत भी इसी सोच का परिणाम थी। स्त्री को घर से बाहर निकलने की छूट देने के लिए सुधारक अब भी तैयार नहीं थे। वे बस इतना चाहते थे कि वह घर के बाहर के संसार से परिचित हो जाये। उसका यह परिचय भी उन्हीं चीजों और सीमाओं तक हो जितना पुरुष चाहे। तभी तो पुरुष के नियंत्रण का स्त्री-सुधारवाद कभी भी स्त्री-अधिकारों में नहीं बदल सका। स्त्री-शिक्षा और अधिकार के मुद्दे पर आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में स्त्री

---

[1] मुंशी ईश्वरीप्रसाद-मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक – भूमिका

[2] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती – भूमिका

[3] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 21

के लिए समानता और अधिकारों की बात नहीं मिलती है। 'भाग्यवती' जैसे उपन्यास में अगर इसकी चर्चा भी हुई है तो वह पुरुष के मुँह से, जिसमें अधिकारों का वैचारिक संघर्ष उभर कर सामने नहीं आता है। इन उपन्यासों में स्त्रियों के बीच संघर्ष जरूर दिखाया गया परन्तु अधिकारों पर कुण्डली मारे बैठे पुरुष के खिलाफ स्त्री संघर्ष को स्वर न देकर स्त्री को पुरुष के प्रति समर्पण का ही पाठ पढ़ाया गया है।

गरिमा श्रीवास्तव आरम्भिक उपन्यासों की इस कमी को सुधार की शुरुआत के रूप में देखते हुए स्त्री-शिक्षा को स्त्री समानता और अधिकारों की पूर्वपीठिका के रूप में समझने की वकालत करती है। 'वामाशिक्षक' उपन्यास के सम्पादकीय में वे लिखती हैं –"हालाँकि उपन्यास में स्त्री-पुरुष की समानता की बात कहीं नहीं कही गयी है, लेकिन स्त्रियों का शिक्षित होना और अज्ञान से ज्ञान तक बढ़ना 'पितृसत्तात्मक' समाज व्यवस्था में पुरुषवादी वर्चस्व को कमजोर करने के लिए उठाये गये कदम के रूप में देखा जाना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों ने 'स्त्री-समानता' का प्रश्न भी नहीं उठाया था। वे इस बात से परिचित थे कि स्त्री-शिक्षा के बिना स्त्री समानता की बात कहना व्यर्थ है। स्त्री-शिक्षा वस्तुत: स्त्री के विकास की धुरी है, स्त्री की पहचान और 'आत्मनिर्भर छवि' भी स्त्री-शिक्षा के बिना संभव नहीं थी। तत्कालीन साहित्यकारों के प्रयास भले ही आज के परिप्रेक्ष्य में अनगढ़ दिखाई पड़े, किन्तु आज के भारतीय स्त्री-विमर्श और समतामूलक समाज की स्थापना में अतिआरम्भिक उपन्यासों ने पाठकीय रुचि के परिवर्तन के साथ-साथ स्त्री की स्वावलंबनकारी चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में सुधारवाद को जिस स्त्री-शिक्षा के साथ जोड़ कर पाठक तक पहुँचाने का प्रयास हुआ है उसे वैभव सिंह एक पक्षीय, पितृसत्ता का मनमाना, वर्चस्ववादी और गैरबराबरी का सुधारवाद कहते हैं--"औरत को मशीनी गुड़िया में बदलने की हर कोशिश मौजूद है इस किस्म के सुधारवाद में। वह घर संभालती है,सीने-पिरोने का काम करती है, घर के

[1] गरिमा श्रीवास्तव, सम्पादकीय-प्रस्ताविका, वामाशिक्षक, पृष्ठ 8-9

सौदे का हिसाब करती है और फिर जी खोलकर घर वालों से बतियाती है और उन्हें खुश रखती है। इस समय दो औरतों के बीच के अंतर को दिखाने के लिए उन्हें अलग-अलग रूप में गढ़ा गया। एक अच्छी है, दूसरी बुरी।एक निपुण है, दूसरी निकम्मी। एक धर्म-कर्म में रुचि लेती है दूसरी को इसकी परवाह ही नहीं है।"[1]

वैभव सिंह का कहना अपनी जगह सही है परन्तु भारतीय उपन्यास के उदय की पृष्ठभूमि को देखें तो यह सुधारवाद औपनिवेशिक संस्कृति से टकराहट के बीच भारत की पारम्परिक संस्कृति को बचाने के लिए पाठकों में अतीत गौरव का भाव जगाने का बड़ा जिम्मा भी उठाये हुए थे। ऐसे में अगर अपने शुरुआती दौर में ही पुरुष पाठक के खिलाफ मोर्चा खोल देने से इन्हें पाठक संकट का भी सामना करना पड़ता जिसका परिणाम यह होता कि पाठक के अभाव में उपन्यास और उसका सुधारवाद दोनों ही समाज की धारा से कटे ही रह जाते। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकार इस खतरे को समझते थे। वे उपन्यास को पाठकीय संकट से भी बचाना चाहते थे और साहित्य की सामाजिक उपयोगिता के रूप में इसे परिवर्तन का उद्घोषक रूप भी देना चाहते थे। इस संदर्भ में गरिमा श्रीवास्तव ने लिखा है –"उपन्यास के जन्म के पीछे सिर्फ विदेशी प्रेरणा ही नहीं थी, बल्कि भारत के नए उभरते मध्यवर्ग की बौद्धिक आवश्यकताओं का दबाव भी था। भारतीय जनता के सामने एक ओर वर्चस्ववादी औपनिवेशिक संस्कृति थी, तो दूसरी ओर भारत की पारम्परिक संस्कृति। जो बुद्धिजीवी समाज सुधार के आन्दोलनों से जुड़े हुए थे,उनके सामने एक ओर तो अपनी पारम्परिकता को सुरक्षित रखने की चिंता थी, दूसरी ओर पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की नयी आहटों को सुनने की इच्छा।"[2]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में नवजागरण के सुधारवाद का जैसा सन्तुलित और सावधानी भरा प्रयोग हुआ है वह अपने आप में किसी क्रांति से कम नहीं है। हिन्दी की पहली औपन्यासिक कृति 'देवरानी जेठानी की कहानी' में

[1] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 22-23

[2] गरिमा श्रीवास्तव, सम्पादकीय-प्रस्ताविका, वामाशिक्षक, पृष्ठ 11

रूढ़िवादी मान्यताओं का खण्डन मिलता है, भले ही वह दबी जबान में ही क्यों न हो। रुढ़िवादी पितृसत्तात्मक समाज को विधवा विवाह के समर्थन में तैयार करने की इस कोशिश को कम नहीं आंका जाना चाहिए। उपन्यास मध्यवर्ग की कुलीन संस्कृति और सामन्ती सोच की कमियों को बड़े तार्किक ढंग से सामने रखता है। जातीय कुलीनता के नाम पर चले ढोंग को इस उपन्यास में विधवा विवाह के प्रसंग में गैरजरूरी और अमानवीय बताने का बड़ा साहसिक प्रयास हुआ है। वैभव सिंह को इन उपन्यासों में स्त्री के खिलाफ स्त्री की लड़ाई का चित्रण ही अधिक दिखा है परन्तु इस पहले उपन्यास में ही विधवा विवाह के मुद्दे पर स्त्री की पीड़ा को स्त्री के द्वारा समझने का बड़ा उदहारण पं० गौरीदत्त ने पाठक के सामने रखा है - "वह इसे देख बड़ी दुखी होती और अपनी बहिन से कहती कि देखों इस लौंडियाँ ने देखा ही क्या है? यह क्या जानेगी कि मैं भी जगत में आई थी। किसी के जी की कोई क्या जाने है। इसके जी में क्या क्या आती होगी ।इसके साथ की लौंडियें अच्छा खावे हैं, पहिने हैं, हँसे हैं, बोले हैं । गावें हैं, बजावे हैं। क्या इसका जी नहीं चाहता होगा? सात फेरों की गुनहगार है। पत्थर तो हमारी जाति में पड़े हैं। मुसलमानों और साहब लोगों में दूसरा बिवाह हो जाय है। और अब तो बंगालियों में भी होने लगा। जाट, गूजर, नाई, धोबी, कहार, अहीर आदियों में तो दूसरे बिवाह की कुछ रोक-टोक नहीं। आगे धर्मशास्त्र में भी लिखा है कि जिस स्त्री का उसके पति से संभाषण नहीं हुआ हो और बिवाह के पीछे पति का देहांत हो जाये, तो वहां पुनर्बिवाह योग्य है। अर्थात् उस स्त्री का दूसरा बिवाह कर देने से कुछ दोष नहीं।"[1]

विधवा विवाह के प्रसंग पर 'वामा शिक्षक' (सन् 1872 ई.) के लेखक द्वय मुंशी ईश्वरी प्रसाद – कल्याण राय की चुप्पी उपन्यास का कमजोर पक्ष है। उपन्यास में तीन विधवा पात्रों के चरित्रों का वर्णन तो हुआ, पर सिर्फ शिक्षित और अशिक्षत स्त्री के संस्कार को दिखाने भर के लिए। विधवा की समस्या का रचनात्मक समाधान देने में यह उपन्यास असफल रहा। इसका एक बड़ा

[1] पंडित गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 48

कारण लेखकों द्वारा अपने इस उपन्यास को नजीर अहमद की उर्दू पुस्तक 'मिरातुल-उरुस' (गृहिणी-दर्पण) को आदर्श मान कर चलना भी है। यही कारण है 'वामाशिक्षक' स्त्री शिक्षा की रचना तो है पर स्त्री संवेदना की नहीं। लेखक द्वय की यह घोषणा कि यह पुस्तक हिन्दू लड़कियों के लिए है इसका कारण भी 'मिरातुल-उरुस' का उर्दूभाषी समाज के लिए लिखा जाना रहा है। वे लिखते हैं - "यह पुस्तक लड़कियों के लिए है इसलिए उस्को ऐसी सीधी बोली में लिखा है जिस्को हिन्दुओं की लड़कियाँ और स्त्रियाँ बेरोक समझ सकती है और उनकी प्रतिदिन की बोलचाल ऐसी होती है जैसी इस पुस्तक में है। यद्यपि यह पुस्तक हिन्दुओं की लड़कियों को लाभ पहुँचाने की नियत से बनाई गयी है पर उस्के आशय ऐसे हैं कि जिनके पढ़ने से लड़के भी सुशील होंगे।"[1]

विधवा विवाह के मुद्दे पर श्रद्धाराम फिल्लौरी का उपन्यास 'भाग्यवती' (सन् 1877 ई०) भी सुधार का विकल्प नहीं दर्शा पाया। उपन्यासकार ने विधवा विवाह की चर्चा अवश्य चलायी परन्तु इसके पक्ष को मजबूती से रखने के स्थान पर किनारा कर लिया। विधवा विवाह के पक्ष में जो दृष्टिकोण 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में पं०गौरीदत्त का रहा, वैसा नहीं रहा, शायद उपन्यासकार तत्कालीन परिस्थितियों में पाठक की मनोस्थिति से आगे नहीं सोच पाया। जो मार्मिकता विधवा विवाह के पक्ष में पं०गौरीदत्त प्रस्तुत कर पाए वैसी श्रद्धाराम फिल्लौरी नहीं कर पाये। उपन्यास में विधवा विवाह की चर्चा तो हुई पर यह मुद्दा नहीं बन पाया। पं०उमादत्त की पत्नी कहती है "मैंने सुना है कि एक बार तुम्हारे गुरु पं०विश्वेश्वरनाथ जी भी, जो इस कशी भर के सब पंडितों में शिरोमणि थे, एक ऐसी बुरी बात मुँह से निकाल बैठे थे कि जिसको सुन के धरती कांपती थी। चाहे उस समय उनके सामने कोई कुछ उत्तर न दे सका पर आप ही कहो तो, उन्होंने वह बात क्या मुँह से निकाल दी थी कि जो लड़की विधवा हो जाये उसका दूसरा विवाह फिर हो जाना चाहिए? ईश्वर ने बड़ी दया की कि वह पंडित जी परलोक

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद – मुंशी कल्याण राय, वामा शिक्षक, भूमिका

सिधार गये। नहीं तो इस खोटी बात को काशी में अवश्य चला देते। पंडित जी ने कहा 'हम इस विषय पर विवाद उठाना नहीं चाहते कि उन्होंने जो बात चलानी चाही थी कैसी थी। हमारा अभिप्राय केवल यह कहने से है और तुम भी इस बात को भली भांति जानती हो कि बहुत कम पुरुष ऐसे देखे जाते है जो अकेले रहने में अपने मन को बिगड़ने न दें, फिर स्त्रियों की तो क्या गति है! यही बात सोच यदि उनको विधवाओं की दशा पर दया आई हो तो क्या बुरी बात है ?"[1] गोपाल राय ने माना है कि फिल्लौरी जी ने विधवा विवाह का समर्थन 'भाग्यवती' में बहुत स्पष्ट शब्दों में किया था परन्तु पाठशालाओं में विधवा विवाह की शिक्षा को अनुचित मानकर सरकार ने पुस्तक से इस प्रसंग को निकाल दिया – "भाग्यवती की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें पहली बार स्पष्ट रूप से विधवा विवाह का समर्थन किया गया था जिसे उस समय का रुढ़िवादी समाज मानने को तैयार नहीं था। कथा के बीच में (पृष्ठ-14 की पाद टिप्पणी) सूचना दी गयी है कि 'ग्रंथकार ने विधवा विवाह को प्रबल युक्ति प्रमाणों से सिद्ध किया था और विधवा विवाह न होने के दुःख, आर्तहृदय से वह वर्णन किये थे कि पढ़नेहार के आँसू धारा चलती थी, विधवा विवाह करने की उत्तम रीति भी बताई थी। परन्तु पाठशालाओं में विधवा विवाह की शिक्षा देना सरकार ने अनुचित मान के उस प्रसंग को निकाल दिया था। वह प्रसंग कलमी कापी के बीच रचइता पंडित जी के मंदिर फुल्लौर में रक्षापूर्वक धरा है।"[2]

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (सन् 1899 ई०) में विधवा विवाह पर चर्चा तो नहीं की, पर संस्कारी स्त्री के जीवन को दिखाकर इस कटु सत्य का संकेत जरूर कर दिया कि विधवा का जीवन कितना दुभर था – "पति का रोग बहुत बढ़ गया था। पहचान जाती रही थी। सन्निपात बहुत जोर का था। ऊर्ध्व श्वास चलता था। घर के सब लोग रो रहे थे, परन्तु लक्ष्मी की आँखों में आंसुओं का नाम न था। जैसे किसी मनुष्य

[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती, पृष्ठ 12-13

[2] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास,पृष्ठ 33

को दूर की यात्रा पैदल करनी होती है और उस समय वह बड़ी दृढ़ता से फैंट बांध कर चलता है उसी तरह लक्ष्मी पति सेवा में बड़ी दृढ़ हो रही थी।"[1] आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने कथा विधान में तत्कालीन समाज की मनोदशा को अभिव्यक्त कर रहे थे। इन उपन्यासों में उठाये मुद्दों से पता चलता है कि नवजागरण का भारतीय समाज के किन-किन क्षेत्रों पर अधिक प्रभाव पड़ा और कहाँ – कहाँ समाज अभी भी पुरातन सोच में परिवर्तन करने को तैयार नहीं था। विधवा विवाह के संदर्भ में अभी उत्तरभारतीय समाज का कुलीन वर्ग ऊहापोह की स्थिति में था जबकि समाज का निचला तबका इस दृष्टि से आधुनिक सोच के अधिक करीब था। यह आधुनिकता पश्चिम की देन नहीं परम्परावादी समाज के भीतर से निकली थी जिसकी जड़ें हमारे अतीत में बसी थी। क्योंकि पश्चिमी ढंग की शिक्षा और संस्कारों से इस तबके का कोई वास्ता अभी तक नहीं हुआ था। पं०गौरीदत्त ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में इसका जिक्र किया था। हिन्दी का पहला उपन्यास जिसमें विधवा विवाह निषेध जैसी कुप्रथा पर सवाल उठाया है इस दृष्टि से उपन्यासकार का 'विजन' अपने समकालीन रचनाकारों से बहुत आगे है।

विधवा विवाह का मुद्दा प्रेमचंद के 'सेवासदन' में मिलता है उसकी प्रेरणा का स्रोत 'देवरानी जेठानी की कहानी' को ही माना जाना चाहिए। उपन्यासकार ने समाज के उस कटु सत्य को कहने का साहस किया है वह भी बिना लागलपेट के। अपने आपको सभ्य और ऊँची कहने वाली जातियाँ ही विधवा विवाह विरोधी कुप्रथा की शिकार है इस सच को उपन्यासकार ने पाठक के सामने रखा है जो आज भी वर्तमान समाज का बड़ा सच है। समाज का निचला वर्ग इस कुप्रथा से मुक्त हो चुका है परन्तु मध्यवर्ग में आज भी यह कुप्रथा सामाजिक कलंक के रूप में विद्यमान है। बालविवाह जैसी कुरीति पर नवजागरण की सुधारवादी चेतना का प्रभाव अधिक पड़ा। तत्कालीन सभ्य समाज इस कुरीति स्वीकार में विधवा विवाह जैसी ऊहापोह में नहीं था। साथ ही यह भारतीय परम्परा के विरोध में भी न था क्योंकि इसकी शुरुआत

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, पृष्ठ 78

मुस्लिम राज के आगमन से मानी जाती है। यह एक प्रकार से विदेशी शासन की देन थी। इसे नकारने में भारतीय समाज के जातीय संस्कार आड़े नहीं आ रहे थे। साथ ही पितृसत्ता की मानसिकता वाले समाज को इस सुधार से कोई खतरा भी नहीं था। यही कारण है कि बाल विवाह के विरोध में आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में खुलकर लिखा गया। इस मुद्दे पर समाज के परम्परावादी और आधुनिक चेतना के अगुवाओं में मत विभेद भी नहीं था। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी के बीच बाल विवाह के सम्बन्ध सोच का अंतर भी दिखाया गया है। उपन्यासकार ने अभी भी पुरानी पीढ़ी के सामने नयी पीढ़ी की लाचारी या संस्कार की आड़ में इस कुप्रथा के चलने का यथार्थ चित्रण किया है। उपन्यास का पात्र छोटेलाल बाल विवाह का विरोधी है फिर भी अपने बेटे के विवाह के प्रसंग में पुरानी पीढ़ी के तर्क का अनुगामी बन जाता है- "बाबा-दादी ने कहा यह तुम क्या गजब करे हो? जब स्याना हो जायेगा तब कौन बिवाह करेगा? लोग कहेंगे कि यह जाति में खोटे होंगे, जो अब तक बिवाह नहीं हुआ - - - लाचार इनको बुलंदशहर की सगाई रखनी पड़ी।"[1]

बाल विवाह के सम्बन्ध में पुरुष की तुलना में स्त्रियों में रूढ़िवादिता की मानसिकता अधिक प्रभावी थी। यह तत्कालीन समाज का भी सच है और आज के समाज का भी। पाप-पुण्य के ढकोसले भी पुरुष की तुलना में स्त्री को अधिक प्रभावित करते हैं चाहे वह आज की पढ़ी लिखी स्त्री हो या उस दौर की गृहिणी। शायद यह शास्त्रों का प्रभाव था जो कदम-कदम पर स्त्री के लिए स्त्री कहलाने के मानदण्ड निर्धारित करता हुआ उसे भय से मुक्त नहीं होने देता और वह डरी सहमी अपना सम्पूर्ण जीवन इसी शास्त्रीय मानदण्ड पर खरे उतरने में बिता देती है। समाज के इसी यथार्थ को 'वामाशिक्षक' उपन्यास में दिखाया गया। मथुरादास की पत्नी भी बाल विवाह के सम्बन्ध में शास्त्रीय मान्यताओं का सहारा लेती है जो पितृसत्ता के वर्चस्व के अधीन पलती स्त्री का दृष्टिकोण है, स्वतंत्र और स्वावलंबी स्त्री का नहीं- "मथुरादास ने कहा कि

[1] पंडित गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 47

क्या गंगा सयानी हो गयी है अभी तो दो तीन वर्ष विवाह नहीं करूँगा बारहवें वर्ष गंगा का विवाह करने का विचार है, मथुरादास की बहू बोली कि प्रथम तो आजकल हाथ चलता है कल का किसे पता है कि क्या हो जिस काम से निचंत हो जाये वही अच्छा है दूसरे छुटपन में विवाह करने का पुन्य बहुत होता है और बुराई किसी तरह नहीं। बड़ी उमर में विवाह किया और रुपया भी खर्च हुआ और पुन्य भी न हुआ - - - तीसरे स्यानी होने पर लड़का भी स्याना ढूँढना पड़ेगा और अच्छे घरों के लड़के स्याने कब होते हैं उनका विवाह तो छुटपन में ही हो जाता है फिर परवश किसी कंगाल घर ब्याह करना पड़ेगा।"[1]

श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने उपन्यास 'भाग्यवती' में मनोवैज्ञानिक ढंग से बालविवाह के खतरों से अवगत कराया है, साथ ही विवाह को शास्त्रीयता के स्थान पर स्त्री-पुरुष की शारीरिक आवश्यकता की वैज्ञानिक दृष्टि से निर्धारित करने का 'विजन' दिया है। बाल विवाह के विरोध में भाग्यवती के पिता पण्डित उमादत्त कहते हैं – "तुम स्त्रियों को इस बात की बुद्धि नहीं कि छोटी अवस्था में पुत्र का विवाह करना श्रेष्ठ नहीं होता। सुनो, विवाह उस समय करना चाहिए कि जब बालक आप ही स्त्री का भूखा हो। जिसका छोटी अवस्था में विवाह हो जाये उसका स्त्री में अत्यंत प्रेम कभी नहीं हो सकता।"[2] 'भाग्यवती' उपन्यास में फिल्लौरी जी ने बालविवाह के प्रसंग पर ब्रिटिश राज की प्रशंसा की है जिसका बड़ा कारण इस मुद्दे पर प्राचीन भारतीय मान्यताओं और ब्रिटिश शासन की सोच में विरोध का न होना है। वे बालविवाह के शास्त्रीय सिद्धांत का कारण भी स्पष्ट करते हैं जो मुस्लिम राज की परिस्थितियों की उपज था। पं० उमादत्त कहते हैं- "हमने अपने वृद्धों से यह बात भी सुन रखी है कि पहले तो हमारे देश में लड़के-लड़की का विवाह बड़ी अवस्था में करने की ही रीति थी, पर जब से यहाँ मुसलमानों का राज्य हुआ तब से छुटपन का विवाह अच्छा समझने लग गये। कारण इसका यह है कि

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद – मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक, पृष्ठ 21

[2] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती, पृष्ठ 08

यह लोग पहले ही इस देश में आये तो जिसकी बेटी को रूपवती देखते वा सुनते, उसके माता-पिता को धमका के छीन लिया करते थे। इस कारण प्रजा के लोग यौवन अवस्था से पूर्व ही नौ-वर्ष की अवस्था में लड़कियों का विवाह करने लग गये, क्योंकि मुसलमानों के यहाँ उस स्त्री का छिनना वर्जित है जो किसी के हक़ में आ चुकी हो, अर्थात् जो किसी के साथ ब्याही जा चुकी हो। सो अब तो ईश्वर ने हमको उस महाराज अंग्रेज की प्रजा बनाया है कि जो कभी अन्याय नहीं करना चाहता,फिर अब छोटी अवस्था में लड़की –लड़कों के विवाह करने में क्या प्रयोजन है?"[1]

विधवा विवाह के समर्थन और बाल विवाह के विरोध के सन्दर्भ में आरम्भिक हिन्दी उपन्यास उपनिवेशवादी मान्यताओं के साथ खड़े नजर आते हैं। जिसके आधार पर कुछ बुद्धिजीवियों ने इन उपन्यासों के उदय के लिए अंग्रेजी राज की भूमिका को ही मुख्य माना लिया है। इनके सुधारवाद को ब्रिटिश शासन का सुधारवाद मान बैठे।

पाश्चात्य सभ्यता के उपभोक्तावादी मूल्यों के खतरों का पहला सटीक चित्रण मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों में मिलता है। उनके उपन्यास 'धूर्त रसिकलाल' (1899 ई.) व 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899 ई.) में पश्चिमी सभ्यता से टकराहट भारतीय नवजागरण की चेतना से अनुप्राणित हैं। 'धूर्त रसिकलाल' में पश्चिमी सभ्यता के खतरों को भारतीय पुरुष पर दिखाया है तो स्त्री स्वतंत्रता के नाम पर उन्मुक्त भोग के पश्चिमी मॉडल से भारतीय स्त्री को बचाने का सन्देश उनके दूसरे उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में है। उन्होंने शिक्षा के साथ संस्कार को अधिक महत्त्व दिया और शिक्षा की महत्ता उन्मुक्तता के स्थान पर संस्कारी बनाने के रूप में समझा। उपन्यास में स्त्री-शिक्षा और संस्कारों की दृष्टि से स्त्रियों के दो मॉडल पाठक के सामने हैं। स्त्री पात्रों रमा और लक्ष्मी के तुलनात्मक वर्णन द्वारा लेखक ने भारतीय मूल्यों का पुरजोर समर्थन किया है। उपन्यासकार सनातन धर्म के भारतीय आदर्श की दृष्टि से लक्ष्मी का चरित्र गढ़ता है जो सेवा और

[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती, पृष्ठ 10

त्याग के भारतीय जीवन मूल्यों से संस्कारित है। पश्चिमी मॉडल की दृष्टि से भले ही यह परतंत्र स्त्री कही जाये, पर उसकी यह परतंत्रता ही उसके सुखी जीवन का सबसे बड़ा कारण है। वह पति-सेवा को स्त्री का कर्त्तव्य और धर्म मानती है। लक्ष्मी कहती है – "प्राणाधार जो कुछ भी मैंने किया उसमें कुछ भी अधिक नहीं है। 'अहसान' का नाम लेकर मुझे लज्जित न करो। मैं आपकी दासी हूँ और आपकी सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है।"[1]

उपन्यास में 'रमा' के रूप में स्त्री-स्वतंत्रता का पश्चिमी मॉडल है। जिसने भारतीय स्त्री के सेवा और त्याग के स्थान पर उन्मुक्त भोग को ही स्त्री की स्वतंत्रता माना है। इस स्वतंत्रता की झोंक में वह बुराईयों की डगर पर कदम रखने से भी नहीं सकुचाती है। मेमसाहब बनकर वह स्त्रीत्व का अतिक्रमण करना ही जीवन का लक्ष्य मान लेती है। विवाह पूर्व की वर्जनाएं उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखती हैं। पर-पुरुष के साथ सम्भोग करना उसके लिए नवीन सभ्यता की पहचान है- "रमा के कमरे में एक भी बोतल न थी रमा वहां से उठकर अपने पिता के कमरे से जाकर मद्य लायी। दोनों ने नवीन सभ्यता के नियमानुसार एक दूसरे का स्वास्थ्य पान किया। प्रेम के नाते से प्याला बदलौअल हुयी।"[2]

इसी प्रकार उपन्यासकार ने स्त्री के सामाजिक मर्यादा लांघने को नवीन सभ्यता द्वारा पैदा किया गया गंभीर संकट माना है – "बाग में हाथ में हाथ मिलाये दोनों ने सैर की। गाड़ी से उतारते चढ़ाते वा ऊँची नीची जगह रमा को सहारा देना नवीन सभ्यता का नियम था। स्त्री के शरीर स्पर्श से पुरुष की और पुरुष के शरीर स्पर्श से स्त्री की जैसी स्थिति होती है उसके प्रकाश करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।"[3] रमा की इस स्वतंत्रता को भारतीय समाज के लिए खतरनाक बताया है जिसका दुष्परिणाम परिवार के टूटने के रूप में देखा जा सकता है। जीवन अधिकारों के सहारे ही नहीं जीया जा सकता है।

---

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, पृष्ठ 80

[2] वही, पृष्ठ 13

[3] वही, पृष्ठ 23

जीने के लिए प्रेम भाव जरूरी है जो उन्मुक्त भोग से नहीं, सेवा और त्याग जैसे मूल्यों से विकसित होता है। उपन्यासकार का यह आदर्श आगे चलकर प्रेमचन्द के उपन्यासों में फलीभूत होता है इस प्रकार प्रेमचन्द की उपन्यास दृष्टि का सम्बन्ध मेहता लज्जाराम शर्मा से सहज ही जुड़ता है। प्रेम में क़ानूनी समानता की नहीं मन के एकाकार होने की जरूरत होती है। जहाँ इसका अभाव हुआ जीवन का सुख गायब हो जायेगा। क़ानूनी समानता में सुख की गारंटी नहीं है अपितु यह तो एक तरह से वर्चस्व की लड़ाई है। रमा का चरित्र उस स्त्री का है जिसने अधिकारों को तो जाना है पर कर्त्तव्यों को भुला कर। तभी वह पति से कहती है - "यह तो आप जानते ही हैं कि नवीन समाज में पति-पत्नी का समान स्वत्व है और इस कारण से आपको मुझे आज्ञा देने का कोई अधिकार नहीं है।"[1]

मृत्यु शैया पर पड़े पति के इलाज के लिए वह उसके (पति) कमाए धन को देने के लिए तैयार नहीं। रमा का चरित्र भारतीय स्त्री के आदर्श पतिव्रत्य धर्म, मानवी संवेदना और करुणा की मूर्ति जैसे भावों से भटकाव का सूचक है। जिसने संस्कारों से रहित होकर सिर्फ अधिकारों की वकालती भाषा बोलना सीख लिया है- "जो वस्तु आप मुझे दे चुके हैं उसे पीछे मांगने का आपको कोई अधिकार नहीं है। जब उस रांड के साथ मौज की है तो आपके बदले कष्ट कौन भोगेगा।"[2]

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों में सामाजिक सुधार लेखकीय प्राथमिकता थी। वे उपन्यास की उद्देश्य से आगे उसके सदुद्देश्य की संस्कृति तक पहुँच रखने वाले कथाकार थे। वे रचना में बदलाव दिखाने से भी आगे रचना से बदलाव लाने वाले रचनाकार थे। ज्ञानचंद जैन ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास' में मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों के सामाजिक सरोकारों को प्रेमचंद तक जाने वाली कड़ी के रूप में देखते हुए लिखा है-"देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों ने हिन्दी के लिए जैसे पाठक समुदाय का विकास किया उससे

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी,पृष्ठ 81
[2] वही, पृष्ठ 84

भिन्न दिशा में चलकर भी मेहता लज्जाराम ने अपने उपन्यासों के द्वारा पाठिकाओं का एक नया समुदाय तैयार किया। आगे चल कर प्रेमचंद ने जहाँ देवकीनंदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के पाठकों को अपना पाठक बनाया वहीं दूसरी ओर मेहता लज्जाराम की पाठिकाओं को भी अपना पाठक बनाया।"[1]

वैभव सिंह ने हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में स्त्री और पुरुष के लिए पश्चिमी संस्कृति के नकार और स्वीकार के दो अलग-अलग सिद्धांतों की बात कही है- "थोड़ा आश्चर्य इस बात का होता है कि जिस पश्चिम और पश्चिमी मेमसाहब के नकारात्मक प्रभाव से अपनी उच्चवर्गीय स्त्रियों को बचाने की चिंता की जा रही थी, उसी पश्चिम से प्रेरित होने के लिए पुरुषों से अपीलें भी की जा रही थी।यानि पुरुषों को पश्चिमी सभ्यता से सीख ग्रहण करने और स्त्रियों को उसी पश्चिमी सभ्यता के छूत से दूर रहने के लिए कहा जा रहा था।"[2] वैभव सिंह इस बात को नहीं समझ पाये कि पश्चिमी स्त्री का आधुनिक मॉडल यूरोप में असफल हो गया था। वहाँ परिवारों के टूटने का बड़ा कारण यही मॉडल बना। संयुक्त परिवार की संस्कृति वाले भारतीय समाज के लिए यह मेमसाहब वाला मॉडल अनुपयोगी ही नहीं खतरनाक भी था। यह न तो भारतीय स्त्री के हित में था और न ही भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के अनुकूल। सच तो यह है कि आज भी पारिवारिक मूल्यों के पतन का बड़ा कारण यही मेमसाहब वाली मानसिकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी कमियां स्त्रियों में थी और सुधार की आवश्यकता भी सिर्फ स्त्री समाज को ही थी। अगर समाज व्यवस्था को देखें तो सांस्कृतिक मूल्यों को बचाने की जिम्मेदारी सदैव पुरुष से अधिक स्त्री ने निभाई है। पारिवारिक मूल्यों के लिए त्याग भी पुरुष से अधिक स्त्री ने ही किये हैं। ऐसे में आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार स्त्री की सामाजिक भूमिका को समझ कर दूरदर्शिता का परिचय दे रहे थे जिसे वैभव सिंह एक पक्षीय सुधारवाद मानते हैं। वे जानते थे कि स्त्री वह कड़ी है

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 236
[2] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ 29

जो हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को जोड़े रख सकती है और अगर वही भटकाव का शिकार हो गयी तो हमारी सामाजिक व्यवस्था बिखर जायेगी। साथ ही हमें इस सत्य को भी स्वीकार करना होगा कि पितृसत्तात्मक समाज में सुधार का उपदेश पुरुष के गले उतरने वाला नहीं था। सुधार की जरूरत से ज्यादा सुधार की संभावनाओं को खोजने की विवेकपूर्ण सोच का परिचय देने की दृष्टि से आरम्भिक उपन्यासकार साधुवाद के पात्र हैं। आरम्भिक उपन्यासों के सुधारवाद को स्त्री सुधार की एकांगी दृष्टि से नहीं, स्त्रियों के माध्यम से समाज सुधार की शुरुआत समझे जाने की आवश्यकता है।

स्त्री सुधार में यह बड़ा सच निहित था कि एक प्रकार से यह घर-परिवार की संस्कृति के भीतर राष्ट्रीय गौरव की तलाश थी। समाज व राजनीति में अंग्रेज पहले ही अपनी श्रेष्ठता व शक्ति को भारतीयों पर थोपने में सफल हो चुके थे। स्त्री के माध्यम से अभी भी राष्ट्र पश्चिमी उपनिवेशी सभ्यता से टक्कर लेने की स्थिति में था। पश्चिम में स्त्री की सामाजिक भूमिका नगण्य हो गयी थी। वह बड़ी जिम्मेदारी निभाने में भी असफल रही, जबकि भारतीय समाज में स्त्री गृहिणी रूप में अभी भी बड़ी भूमिका निभा रही थी। आरम्भिक उपन्यासों के स्त्री सुधार को स्त्रियों के सुधार तक ही नहीं अपितु उपनिवेशवाद की श्रेष्ठता के दंभ को तोड़ने के सफल प्रयास समझा जाना चाहिए। एक तरह से यह स्त्रियों के माध्यम से उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रवाद की सांकृतिक चेतना थी, जो वैचारिक स्तर पर उपनिवेशवाद से टकराहट लिए थी। मेहता लज्जाराम शर्मा ने 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' उपन्यास में रमा के चरित्र को पश्चिमी समाज का प्रतीक मान कर व्यंग्य किया- "न्यायालय में पति का बुरा चाल चलन सिद्ध कर उसका मानमर्दन कर के विवाह का ठेका तोड़ अहिन्दू समाज में प्रशंसा प्राप्त की।"[1]

स्त्री का यह रूप पश्चिम में था जहाँ विवाह के बंधन की कोर्ट में धज्जियाँ उड़ रही थी। न वह संतान पैदा करने में विश्वास करती है न उसे भविष्य की कोई फ़िक्र। उन्मुक्त भोग में डूबी वह जीवन में मौज मस्ती करना ही अपना

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, पृष्ठ 42

अधिकार समझ बैठी है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता पर विशेष जोर दिया गया है। इस दौर के लगभग सभी उपन्यासों में पढ़ी-लिखी और अनपढ़ स्त्री के अंतर को दिखाया गया है। शिक्षित स्त्री परिवार को संस्कारवान बनाती है। पति के कार्य में सहयोग करती है। दैनिक खर्च का हिसाब रख धन के अपव्यय को रोकती है। संकट के समय परिवार को संभालने के लिए तैयार रहती है। वहीं अनपढ़ स्त्री का अधिकांश समय घर में झगड़े और कलह में व्यतीत होता है। वह ढोंग-ढकोसलों में धन का अपव्यय करती है। बच्चों को शिक्षित और संस्कारवान बनाने के स्थान पर आभूषणों और गहनों के दिखावे के चक्कर में बच्चों की मौत का कारण बनती है। हिन्दी के पहले उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामाशिक्षक' में बालकों को गहने पहनाने और उसके कारण अप्रिय घटनाओं के घटित होने का वर्णन हुआ है। उपन्यासकारों ने बालकों को गहने पहनाने को गलत बताया है। शायद उस समय के समाज में इसकी वजह से अप्रिय घटनाएँ ज्यादा घटती रही होगी।

आरम्भिक उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा पर इतना जोर दिया गया है कि पढ़ी-लिखी स्त्री को सफल और सुखी परिवार की धुरी माना गया है। पं० गौरीदत्त ने अपने उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में छोटेलाल के प्रसंग से इसी सत्य का उद्घाटन किया है- "इधर इसकी घरवाली इससे खूब राजी थी। और यह बात परमेश्वर की दया से होती है कि दोनों स्त्री-पुरुष के चित्त इस तरह मिल जाएँ। यह कुछ अचम्भे की बात भी नहीं है। दिल तो वहां नहीं मिलता जहाँ मर्द पढ़ा हो, और स्त्री बेपढ़ी। जब यह दोनों मिलते, एक दूसरे को देख बड़े प्रसन्न होते।इधर वह उसके मन की बात पूछती और अपनी कहती।इधर उसको इस बात का बड़ा ही ध्यान रहता कि कोई बात ऐसी न हो कि जिससे इसका मन दुखे।"[1] पं०गौरीदत्त ने दौलत राम की पत्नी के चरित्र को उस अनपढ़ स्त्री के प्रतीक रूप में रखा है जो ईर्ष्या-द्वेष की मूर्खता से भरी है। घर-परिवार में कलह के सिवाय उसके पास कोई दूसरा कार्य नहीं है। छोटेलाल के

[1] पं० गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 31

बेटी होने पर उसकी प्रतिक्रिया उस समय के समृद्ध परिवार की मूर्ख स्त्रियों का सटीक उदहारण है जिस पर उपन्यासकार लिखा है- "जिनके स्वभाव खोटे पड़ जा हैं फिर सुधरने कठिन पड़ जा हैं। यह कुछ तो खुशी हुयी, पर जेठानी एक दिन को भी आ के न खड़ी हुयी। छठी और दसूठन के दिन चरखा ले के बैठी और जिस दिन देवरानी चालीस दिन का न्हान न्हा के उठी तो उस बिरियाँ नाक में बती दे के छींका और सास और देवरानी को सुना-सुना यह कहती कि जिनके नसीब खोटे हो हैं उनके बेटी हो हैं और जिनके नसीब अच्छे हैं उनके बेटे हो हैं।"[1]

'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में देवरानी पढ़ी-लिखी स्त्री का प्रतिनिधित्त्व करती है, तो जेठानी अनपढ़ स्त्री का। दोनों के चरित्र पाठक के सामने जिस रूप में खुलते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में स्त्री शिक्षा को लेकर कोई मतभेद नहीं था।शिक्षा ही संस्कारी और मूर्ख स्त्री के विभाजन का बड़ा आधार थी। आगे चलकर स्त्री-शिक्षा के भारतीय और पश्चिमी मॉडल पर जो बहस मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी'(1899 ई.) में उठाई गयी है उसमें भी स्त्री-शिक्षा की महत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। वहां भी संस्कार का निर्माण शिक्षा से ही संभव बताया गया है। पं०गौरीदत्त ने दौलतराम की बहू (जेठानी) में अनपढ़ स्त्री का जो रूप देखा है वह केवल उस समय के समाज का ही यथार्थ नहीं है अपितु वर्तमान समाज की भी उतनी ही बड़ी सच्चाई है। उसका चरित्र काल और व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं है। उसमें अनपढ़ स्त्री का वह रूप समाया है जिसे आज भी हम अपने समाज में सर्वत्र देखते हैं। अनपढ़ स्त्री की प्रकृति और मूर्खताएं पाठक को स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता का पाठ पढ़ा जाती है। दौलतराम की बहू में अनपढ़ स्त्री के जीवन का सच बसता है- "किसी के सामने दूध नहीं पिलाती, न उसको दिखलाती। गोद में ढँक के बैठ जाती। इसलिए की कभी नजर न लग जाये। नित टोने- टोटके, गंडे-ताबीज करती रहे थी। जो कोई स्याना-दिवाना आता, इससे रुपया धेली मार

[1] पं० गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 40

के जाता। अर्थात जो मूर्ख स्त्रियों के काम हैं और उनसे किसी प्रकार का लाभ नहीं हैं, किन्तु बड़ी हानि है, सब करती और अपनी देवरानी को सुना-सुना स्त्रियों से कहती कि बहिन, बेटा तो हुआ है जो बैरी जीने देंगे।"[1]

समाज सुधार की दृष्टि से स्त्री-शिक्षा की भूमिका को आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में अनेक प्रकार के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया। उपन्यासकारों ने इस दृष्टि से समाज के पिछड़ेपन को गुलामी का कारण माना। आरम्भिक उपन्यासों में वर्णित स्त्री-शिक्षा का मुद्दा एक तरह से भारतीय समाज को गुलामी की मानसिकता से राष्ट्रवाद की ओर ले जाने का आगाज था। जिसकी पृष्ठभूमि में सन् 1857 ई० का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था। सन् 1857 ई० के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की विफलता का एक बड़ा कारण भारतीय समाज का दो वर्गों में बंटा होना भी था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में इस वर्ग विभेद को मिटाने और अंग्रेज समर्थक मानसिकता से लड़ने के लिए स्त्री-शिक्षा को हथियार बनाया, क्योंकि इसके अभाव में राष्ट्रवाद भावनात्मक मुद्दा न बन कर स्वार्थ की लड़ाई बन कर रह जाता जैसा सन् 1857 ई० की क्रांति के समय हुआ।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा को अंग्रेजी राज की काट के लिए संस्कार की तरह देखा गया। 'वामाशिक्षक' (1872 ई०) उपन्यास में स्त्री-शिक्षा का मुद्दा भारतीयों की पराधीनता और अंग्रेजों की सफलता के कारणों के संदर्भ में स्पष्ट इशारा करता है। उपन्यास में मथुरादास लड़कियों को पढ़ाने के फायदे बताते समय अंग्रेजी समाज को उदाहरण रूप में रखता है जो अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय गुलामी के कारणों का संकेत भी है। मथुरादास कहता है कि "लड़कियों को पढ़ाने लिखाने से कितना बड़ा लाभ है कि जब वह बड़ी होगी और उनके लड़के बाले होंगे तो अपने बालकों को समझ आते ही अच्छी बातें सिखाया करेगी और उनकों पढ़ाया लिखाया करेगी और यह बात भी है कि पढ़ी हुयी स्त्री की संतान भी जीवट वाली और बुद्धिमान होती है देखों अंगरेजों के यहाँ सब पढ़ते हैं इसीलिए सब बुद्धिमान और शूरवीर होते

[1] पंडित गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 46

हैं।"[1] स्त्री-शिक्षा को लेकर पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता को 'वामाशिक्षक' उपन्यास में जमुनादास के चरित्र के माध्यम से दिखाया है। समाज में आज भी यह स्थिति देखी जा सकती है कि स्त्री-शिक्षा के विरोधी अपने तर्क में शिक्षा को लड़कियों के बिगड़े चाल चलन से जोड़ देते हैं। उन्हें लगता है कि शिक्षा जनित परिवर्तन समाज के ढांचे के अनुकूल न होकर प्रतिकूल परिस्थितियों का कारण बन जाता है। पितृसत्तात्मक समाज की इस द्विधा को 'वामाशिक्षक' में जमुनादास और मथुरादास दो भाईयों के चरित्र द्वारा समझाया गया है- जमुनादास को समझाते हुए मथुरादास कहता है – "भाई साहिब जब स्त्रियों को भले बुरे और सच झूठ की पहचान हो जाएगी तो आप उनका जी बुरी बातों से कोसों दूर भागेगा वह आप बुरी पुस्तकों को देख और उनकों बुरा समझ कर फेंक देगी कभी उनको बर्ताव में न लाएगी और जो हजार में एक आदि का मन बिगड़ भी गया तो उस्से यह न होना चाहिए कि एक के डर से औरों को भी विद्या और गुण न सिखाये जावें अनपढ़ स्त्रियों का बुरा चाल चलन नहीं होता है धन इकट्ठा करने में सदा डर रहता है कि चोर न ले जावे वा आग में जल जावे पर इस डर से कह नहीं सकते कि धन इकट्ठा करना छोड़ दे –हाँ यह चाहिए कि बुरी पुस्तकों से जहाँ तक हो सके बचाना चाहिए जैसे खोटे प्रसंग का फल खोटा होता है वैसे ही बुरी पुस्तके भी कुछ न कुछ बिगाड़ करती हैं-बुरी पुस्तकों का बर्ताव खो देना हमारे ही बस में है।"[2]

'वामाशिक्षक' उपन्यास के जमुनादास की मानसिकता वाले समाज को आगे चल कर श्रद्धाराम फिल्लौरी अपने उपन्यास 'भाग्यवती' (सन्1877 ई०) में स्त्री-शिक्षा का पाठ पढ़ाते हैं। भाग्यवती के चरित्र के माध्यम से उपन्यासकार ने स्त्री-शिक्षा का खुलकर समर्थन किया और संस्कारी स्त्री के निर्माण की पहली कड़ी शिक्षा को ही बताया – "मनुष्य हो चाहे स्त्री, विद्या सबका भाग्य बना देती है। हाय, वे कैसे बुरे माता-पिता हैं कि जो अपनी संतान को विद्या

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद – मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक, पृष्ठ 11
[2] वही, पृष्ठ 12

नहीं सिखाते? धिक्कार है उन्हें जो यह बात कहा करते हैं कि स्त्री को विद्या न पढ़ानी चाहिये! और बड़े ही मूर्ख हैं वे लोग जो अपने मुख से ये बातें कहा करते हैं कि विद्या पढ़ी हुयी स्त्री बिगड़ जाती है। क्या भाग्यवती स्त्री नहीं है जो कई वर्ष अपने पति से अलग रह के पवित्र रही? और क्या यह विद्या ही का प्रताप नहीं कि विपत्काल में धैर्य-संतोष को हाथ से नहीं छोड़ा? और क्या यह विद्या ही का फल नहीं कि एक लोहे के तसले से सहस्त्रों रुपयों का पदार्थ इकट्ठा कर लिया?"[1]

'भाग्यवती' उपन्यास में स्त्री-शिक्षा का जो मॉडल है उसमें जीवन की व्यावहारिकता का सिद्धांत अपनाया गया है। पहली बार 'भाग्यवती' उपन्यास में शिक्षा को मनुष्य के सर्वांगीण विकास से जोड़कर शास्त्र की उपदेश परक शिक्षा से आगे स्वावलंबन की व्यावहारिक शिक्षा का मॉडल प्रस्तुत हुआ है। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने भाग्यवती की शिक्षा के सम्बन्ध में लिखा है -"सहस्त्रनाम गीता तो आप उससे सुन ही चुके हैं, पर उसके पीछे मैंने उसको भाषा-व्याकरण, ऋजुपाठ, हितोपदेश और शिक्षामंजरी पढ़ाई। अब वह भूगोल-खगोल नाम का ग्रन्थ पढ़ रही है, और फिर मेरी इच्छा है कि थोड़ी सी गणित विद्या पढ़ा के पीछे 'आत्मचिकित्सा'(श्रद्धाराम जी का एक ग्रन्थ) का आरंभ कर दूंगी, क्योंकि उसके पढ़ने से प्राणी को लोक-परलोक दोनों भांति के व्यवहार प्रतीत हो जाते हैं और गृहस्थ-धर्म और मनुष्य धर्म को सर्व प्रकार से जान लेता है।"[2]

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों के सुधारवाद पर चर्चा करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि ये स्त्री-शिक्षा या स्त्री-सुधार के लिए लिखी गयी पुस्तकें ही नहीं, इनमें तत्कालीन समाज की समस्याओं और जीवन की विविधता का भी मार्मिक चित्रण हुआ है। जीवन के उतार-चढ़ाव बड़े ही यथार्थ रूप में घटित होते दिखाए गये हैं कि पाठक उनका साधारणीकरण सहज ही कर लेता है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास के सम्पादकीय

[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी,भाग्यवती, पृष्ठ 66

[2] वही, पृष्ठ 14

में पुष्पपाल सिंह ने जो विशेषता इस उपन्यास की बताई है वह इस दौर के सभी उपन्यासों के सम्बन्ध में सही और सटीक मानी जा सकती है– "छोटे आकार (क्राउन साईज) के मात्र पैंतीस पृष्ठों की इस औपन्यासिक कृति में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को इतनी सूक्ष्म दृष्टि से इतने बहुआयामी रूपों में संदर्भित किया गया है कि हिन्दी के प्रथम उपन्यास में ही यह कौशल देख कर आश्चर्य होता है। बालविवाह, विधवाविवाह, विवाह में फिजूलखर्ची, स्त्रियों की आभूषण प्रियता की वृत्ति, परिवारों में अलग्योझा की समस्या, वृद्धों का बहुओं द्वारा ख्याल नहीं रखा जाना आदि समस्याएँ नारी शिक्षा की समस्या के साथ बड़े कौशल से अंतर्ग्रंथित हैं। साथ ही लोक जीवन इतने चटख रंगों में पूरी प्रामाणिकता में चित्रित हुआ है कि तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य से गहरी पहचान स्थापित कराता है।"[1]

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों का सुधारवाद कोई नैतिक उपदेश या शास्त्रीय सुधारवाद नहीं था। जीवन की व्यावहारिक समस्याएं इनमें चित्रित हुई है। घर-परिवार की दैनंदिन आवश्यकताएं और उनका रचनात्मक पक्ष इस दौर के सभी उपन्यासों में खुलकर सामने आया है। स्त्री-शिक्षा को पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित नहीं रखा गया है। छोटे-छोटे पर आवश्यक कार्यों की व्यावहारिक शिक्षा भी स्त्री को दी गयी है जो पारिवारिक महिला के लिए बहुत जरूरी है। आज जिस प्रकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियां सौन्दर्य प्रसाधनों को बेचकर बाजार में लूट का अर्थतंत्र विकसित कर रही है और हम उन छोटी-छोटी वस्तुओं, जिन्हें घर में ही तैयार किया जा सकता है के लिए बाजार की तरफ भागते हैं। उसके पीछे बड़ा कारण व्यावहारिक शिक्षा का अभाव है, जिसके कारण हम लूट का शिकार होते हैं। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह भली-भांति कर रहे थे। वे अपने उपन्यासों में व्यावहारिक और रचनात्मक शिक्षा द्वारा स्त्री-पाठकों को स्वावलंबन का महत्त्व भी समझा रहे थे। हिन्दी के पहले उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में पं.गौरीदत्त ने काजल बनाने की कला का जो वर्णन किया है वह स्त्री स्वावलंबन की

[1] पुष्पपाल सिंह, देवरानी जेठानी की कहानी, (सम्पादकीय) भूमिका, पृष्ठ 8

व्यावहारिक शिक्षा का उदाहरण प्रस्तुत करता है- "काजल बनाना- १ तोला जस्त,१तोला रसौत,६मासे फटकी, २तोले छोटी हड़, बाजार से मंगा के १ तोले गौ के घी को एक सो एक बार धोकर उसमें रसौत और फटकी पीस के मिला दी और समूची हड़ों समेत कांसी की प्याली पर रगड़ लिया। नन्हें की आँखों को इसी से आराम हो गया।"[1] इसी प्रकार उपन्यासकार ने गर्भवती महिलाएं द्वारा रखी जाने वाली सावधानियों का उल्लेख कर स्त्री-शिक्षा को सीधे जीवन के व्यवहार से जोड़ा है- "इन दिनों छोटेलाल की बहु गर्म चीज न खाती। बहुत करके कोठे पर न जाती और न बोझ उठाती। जब किसी चीज को खाने को जी चाहता तो अपनी सास वा और किसी बड़ी बूढ़ी से पूछ के मंगा लेती। ऐसी-वैसी चीज न खाती। खट्टी चीज को खाने का बहुत जी चाहा करे था सो कभी कभी नींबू का अचार या कैरी खा लेती थी।"[2]

श्रद्धाराम फिल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' में अंग्रेजी राज की प्रशंसा जिस संदर्भ में की गयी है उसके पीछे भी राज-भक्ति नहीं, जीवन के सत्य का आधार था।ब्रिटिश शासन ने चेचक जैसी भयंकर बीमारी के निवारण के लिए जो प्रयास किये वे सराहनीय थे। उपन्यासकार ने उस दौर के समाज की रूढ़िवादी मानसिकता और अंधविश्वासों के कारण होने वाली समस्याओं को व्यावहारिक दृष्टि से समझा है। 'भाग्यवती' द्वारा ब्रिटिश राज की प्रशंसा का कारण भी अंधविश्वास जनित तत्कालीन समाज में निहित था। फिल्लौरी जी इस सत्य को उद्घाटित करते हैं कि उस समय के समाज की अंधविश्वास भरी मानसिकता ब्रिटिश राज की गुलामी से भी बड़ी चिंता का विषय थी। भाग्यवती कहती है -"इनके समान चतुर और प्रजा का भला चाहने वाला राजा आज कौन हो सकता है ? देखो हमारे देश में सीतला निकलने से कितने बच्चे मरा करते थे,पर जब से इन्होंने टीका लगाने की रीति फैलाई है तब से बहुत थोड़े बालक ठंडे होते हैं।"[3]

---

[1] पंडित गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 42

[2] वही, पृष्ठ 39

[3] श्रद्धाराम फिल्लौरी,भाग्यवती,पृष्ठ 74

'वामाशिक्षक' उपन्यास में भी शीतला की बीमारी के संदर्भ में अन्धविश्वास के कारण होने वाली बच्चों की मौत का वर्णन कर सुधारवाद को जीवन व्यवहार की शिक्षा से जोड़ा है। उपन्यास में तत्कालीन समाज की उस मानसिकता को सामने लाया गया है जिसमें झाड़-फूंक और तंत्र-मन्त्र के निजी ढोंगी स्वार्थ के लिए चिकित्सा शास्त्र के खिलाफ समाज की स्त्रियों को बरगलाकर अपना उल्लू सीधा करते थे। शीतला का टीका लगवाने पर देवी माता के नाराज होने का अंधविश्वास समाज सुधार में बड़ा रोड़ा बन गया था। स्त्रियों में यह अंधविश्वास किस कदर समाया था-"राधा ने कहा नहीं, नहीं मैं अपने लड़कों के टीका कभी नहीं लगवाऊंगी देवी माई की मुझ पर वैसे ही दया रहेगी क्या सबके टीका ही लगवाया करते है,जिनके टीका नहीं लगता क्या देवी माई उन पर कृपा नहीं करती वह तो जगत माता हैं और सबके मनोरथ जानने वाली हैं उनसे छिपा कर मैं अपने लड़कों को कहाँ ले जाउंगी।"[1] 'वामाशिक्षक' चूँकि स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है अत: इसमें अंधविश्वास की रूढ़ मान्यताएं स्त्रियों के बीच ही अधिक दिखाई गयी हैं जो सच तो हैं पर पूरे समाज का सच नहीं। इसमें पुरुष समाज इन दोषों से मुक्त नजर आता है जो यथार्थ का एकांगी चित्रण है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के दोष गिनाना तो आसान है पर इन दोषों की तह में पुरुष का वर्चस्व कितना जिम्मेदार है इस सच्चाई तक आरम्भिक उपन्यासकार पहुँच नहीं पाये या जानबूझकर नहीं पहुँचे।

आरम्भिक उपन्यासों में पितृसत्तात्मक समाज की एक बड़ी सच्चाई उभरकर सामने आती है जिस पर अभी तक गंभीरता से समाज शास्त्रीय और साहित्य शास्त्रीय अध्ययन नहीं हुआ है। इन उपन्यासों में स्त्रियों को ही दोषों से युक्त और उनको ही भोक्ता दिखाया गया है। ऐसा लगता है कि बच्चों की देखभाल और उनके स्वास्थ्य की पूरी जिम्मेदारी पुरुष ने स्त्री पर डालकर परिवार की इस बड़ी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया। स्त्रियाँ ही रोती-बिलखती हैं और वही पश्चाताप की आग में जलती हैं। पुरुष तो इस संवेदना के पक्ष से एकदम

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद – मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक,पृष्ठ 78

गायब हो गया। पुरुष ने स्त्री की उसी सलाह को माना है जिसमें उसे अधिक स्वछन्द और उत्तरदायित्व से मुक्त करने की बात हो। शीतला जैसी बीमारी के संदर्भ में पुरुष की कोई सकारात्मक भूमिका नजर नहीं आती है। वह कभी तो सिर्फ सलाहकार भर नजर आता है या परदे से गायब। भारतीय पुरुष प्रधान समाज का दोगला चरित्र इन उपन्यासों के माध्यम से समझा जा सकता है। 'वामाशिक्षक' उपन्यास पुरुष की गैरजिम्मेदारी का संकेत करता है भले ही सारे दोष स्त्री पर क्यों न मढ़ दिये जाये -"राधा बहुत रोई पीटी पछताई कि हाय मैंने मर्दों का कहना क्यों नहीं माना और अपनी बहन गंगा का भी कहना टाल दिया जो आज उसके भी टीका लगा होता तो क्यों इस रोग में मरता और अब वह सैकड़ों गालियां देवी माई को देने लगी और कहने लगी कि अरी तू बड़ी हत्यारिन है जो मेरे बालक को खा लिया पर पीछे पछताए क्या होत है जब चिड़ियाँ चुग गयी खेत। आदमी को पहले ही आगा पीछा सोचना चाहिए।"[1]

आरम्भिक उपन्यासों में 'भाग्यवती' को छोड़ किसी भी उपन्यास में स्त्री-पुरुष की समानता का मुद्दा उभर कर नहीं आया है। इनमें पढ़ी-लिखी स्त्री और अनपढ़ स्त्री के बीच अंतर दिखाने पर ही अधिक जोर रहा। सामाजिक आडम्बरों, अंधविश्वासों और कुरीतियों के सन्दर्भ में पुरुष की अपेक्षा स्त्री की अधिक नकारात्मक भूमिका का चित्रण हुआ है। पुरुष को अगर इन बुराईयों का समर्थन करता हुआ दिखाया भी है तो उसके पीछे स्त्री (पत्नी) को ही जिम्मेदार बना दिया। स्त्री-शिक्षा और सुधार का दृष्टिकोण अगर पुरुष की सामाजिक भूमिका और जिम्मेदारी तय करने के साथ उठाया जाता तो शायद ये उपन्यास अधिक रचनात्मक बन पाते। इनमें पुरुष को नवजागरण की चेतना की दृष्टि से स्त्री से आगे दिखाया, परन्तु घर-परिवार में उसकी क्रन्तिकारी भूमिका नहीं के बराबर है। उपन्यासकारों ने शिक्षा के आधार पर जिस प्रकार का अंतर स्त्रियों के बीच दिखाया वैसा पुरूषों में नहीं। अनपढ़ ही नहीं शिक्षित-स्त्री भी हर बार पुरुष को ही अधिक ज्ञानी, अनुभवी और

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद – मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक,पृष्ठ 80

समझदार बताती है। उसकी इस श्रेष्ठता का आधार शिक्षित होना या न होना नहीं अपितु पुरुष होना है। जबकि पुरुष हर बार "तुम स्त्रियों को इस बात की बुद्धि नहीं"(उमादत्त,भाग्यवती उपन्यास) कह कर अपनी ही श्रेष्ठता सिद्ध करता है। वामाशिक्षक उपन्यास में राधा और गंगा के बीच का संवाद पुरुष लेखकों की मानसिकता और मज़बूरी दोनों को ही सामने लाता है। मानसिकता स्वयं अपने पुरुष होने और मज़बूरी उपन्यास के पाठक पुरुष होने की है। आरम्भिक उपन्यासकार इस मानसिकता और मज़बूरी से बाहर नहीं निकल पाये – राधा- "बहन लड़का तो अपने हाथों खोया मैं बहुतेरा अपना सिर धुनती रही कि स्याने दिवाने को पर इन्होंने किसी स्याने को नहीं बुलाया एक हाकिम ही पर सर मुंडाये बैठे रहे।" तब गंगा ने कहा अरी बहन तू कैसी बात करती है मर्दों को औरतों से कुछ ज्यादा ही समझ होती हैं -सैंकड़ों पोथियाँ पढ़ते हैं - सैंकड़ों जगह बैठते हैं - सैंकड़ों बीमारियाँ देखते हैं जो स्याने आराम कर देते तो मर्द उनको बुरा क्यों कहते हैं और सच भी यही है कि स्याने न्योतों से कुछ नहीं होता वह बड़े ठग होते हैं - उन्हें झूठी मूठी छू छू करने के सिवा और कुछ नहीं आता-भला सोचो तो सही कि कहाँ रोग और कहाँ झाड़ फूँक। ये दुष्ट बड़े हत्यारे होते हैं एक दो दवा दस्तों की अपने पास रखते हैं और वही बे सोचे समझे बालकों को दे देते हैं, लग गयी तो तीर नहीं तो तुक्का। कभी ऐसा होता है कि जो बालक मरता न हो तो उनकी दवा से मर जाता है - मैं तो कभी अपने घर में स्याने न्योतों को नहीं आने देती।"[1]

इस प्रकार आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सुधारवाद समाज की यथार्थ समस्याओं से टकराता हुआ नवजागरण की चेतना को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफल रहा। अंधविश्वासों, कुरीतियों, आडम्बरों जैसी सामाजिक पिछड़ेपन की परतों को हटाते ये उपन्यास जीवन के मार्मिक पक्ष से पाठक को रूबरू कराते हैं। शिक्षा और संस्कार के बीच संतुलन की सुधारवादी सोच से भरे आरम्भिक उपन्यास पूर्वाग्रह से मुक्त होकर पाठक में स्वीकार और नकार का विवेक जाग्रत करते हैं। पश्चिमी शिक्षा और भारतीय

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद – मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक,पृष्ठ 76

संस्कार के बीच समन्वय और टकराहट को साधते ये उपन्यास सुधार का राष्ट्रवादी मॉडल प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं। यद्यपि इनका सुधारवाद स्त्री-शिक्षा पर ही अधिक टिका रहा और इनमें स्त्री के अधिकारों को मुद्दा नहीं बनाया गया। वैभव सिंह को भले ही यह सुधारवाद पुरुष वर्चस्व के आधीन स्त्री को 'मशीनी गुड़िया' बनाने के रूप में लगे परन्तु समाज के कमजोर पहलूओं को उद्घाटित टित करने की यह शुरुवात अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्त्री स्वावलंबन की प्रेरणा का सन्देश लिए यह सुधारवाद ही उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के उपन्यासों का आधार बना।

आज हम स्त्री-विमर्श की बहस में स्त्री और पुरुष के बीच वैचारिक संघर्ष और स्त्री अधिकारों के मुद्दों पर जिस रूप में विचार कर रहे हैं उस दृष्टि से इन आरम्भिक उपन्यासों का मूल्यांकन करना एक प्रकार से उस दौर के समाज की सच्चाई को नजरंदाज करना है। आरम्भिक उपन्यासों के सुधारवाद में स्त्री अधिकारों के अभाव को देखने वालों को यह भी समझना चाहिए कि अधिकारों की प्राप्ति और उसके सदुपयोग के लिए पहले योग्यता हासिल करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन उपन्यासों के सुधारवाद के स्त्री पक्ष की महत्ता दो प्रकार से समझी जानी चाहिए। एक तो स्त्री को योग्यता में पुरुष के बराबर लाने और दूसरे स्त्री की सामाजिक भूमिका में उसे पश्चिमी 'मेमसाहब' बनने के खतरों से बचाने।

'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती', 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' जैसे आरम्भिक उपन्यासों के सुधारवादी पक्ष को स्त्री-शिक्षा के माध्यम से स्त्री स्वावलंबन और राष्ट्रीय नवजागरण की संस्कृति की साहित्यिक अभिव्यक्ति समझा जाना चाहिए। अपनी सीमाओं के होते हुए भी ये उपन्यास समाज सुधार की प्रक्रिया से राष्ट्र-निर्माण की भूमिका तैयार कर रहे थे।

2.मनोरंजन

(चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति, गुप्तचर)

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में जिस प्रकार एक धारा सुधारवाद की चल रही थी उसी के समानांतर मनोरंजन की धारा भी बह रही थी। साहित्य का कोई भी रूप हो मनोरंजन तो उसकी एक विशेषता होती है। साहित्य को नीरस उपदेशात्मकता से बचाने का कार्य मनोरंजन की प्रवृत्ति से ही पूरा होता है। साहित्य का कान्तासम्मित उपदेश उसकी मनोरंजन की प्रवृत्ति के साथ जुड़ा है। मनोरंजन का मूलभाव यही है कि विचार और भाव थोपे हुए न होकर पाठक के अंतर्मन को छूने वाले हों। सुधार उसे उपदेश न लगकर जीवन की सच्चाई और उससे से बढ़ कर उसके स्वयं के लिए जीवन का सार लगे। हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में मनोरंजन की धारा का महत्त्व तब और बढ़ जाता है जब एक तो उपन्यास नयी विधा के रूप में पाठकीय संकट से गुजर रहा था दूसरे नैतिकता और मर्यादाओं की सीमाओं में रह कर उसे पाठक का रुचि-परिष्कार करना था। इन दोनों स्थितियों को साधते हुए हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में मनोरंजन की धारा चल बह रही थी। जो कभी देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी-ऐयारी के रहस्य रोमांच के रूप में तो कभी गोपालराम गहमरी के घटना-प्रधान जासूसी उपन्यासों के रूप में पाठक का मनोरंजन और रुचि परिष्कार कर रही थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य की सामाजिकता की दृष्टि से रहस्य-रोमांच से पूर्ण देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को असाहित्यिक माना है फिर भी उपन्यास विधा को पाठक-प्रिय बनाने और हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रति जन-रुचि जाग्रत करने में उनके उपन्यासों के योगदान को वे इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं - "पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे।- - - इनके इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना वैचित्र्य रहा, रस संचार, भाव विभूतियां चरित्र चित्रण नहीं। यह वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से

है जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे यह साहित्य कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और कोई ग्रंथकार नहीं। चंद्रकांता पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिन्दी सीखी।" [1] यहाँ यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि आचार्य शुक्ल का विरोध मनोरंजन की प्रवृत्ति से नहीं अपितु इन उपन्यासों के तिलिस्मी-ऐयारी प्रधान रहस्य से था। आचार्य शुक्ल ने न केवल उपन्यास के संदर्भ में ही रहस्य-रोमांच का विरोध किया है वे साहित्य के किसी भी प्रारूप में इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उनका इस संदर्भ में एक स्पष्ट दृष्टिकोण था जिसके सहारे वे 'गीतांजलि' की रहस्यात्मकता की आलोचना कर टैगोर से टकराते हैं तो हिन्दी के छायावादी कवियों की रहस्यवादिता पर भी सवाल खड़े करते हैं। आचार्य शुक्ल साहित्य में रहस्य-रोमांच और घटना वैचित्र्य जनित कौतूहल को साहित्य के सामाजिक सरोकारों के लिए बाधा मानते थे। वे साहित्य को वास्तविक जीवन से अलग करके देखने के हिमायती नहीं थे। तिलिस्मी-ऐयारी प्रधान खत्री जी के उपन्यासों को असाहित्यिक कहने का कारण भी यही रहस्य-रोमांच का विधान बना। बात सीधी है, शुक्ल जी साहित्य और रहस्य को एक साथ रख कर देख ही नहीं सकते थे। उनकी आलोचना के मानदण्ड यही थे कि जहाँ रहस्य है वहां साहित्य नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रहस्यवाद के प्रति इस भाव के सम्बन्ध में प्रदीप सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद –विरोधी चरित्र' में लिखा है –"दरअसल शुक्ल जी के पास इससे अधिक के लिए अवकाश नहीं था। रहस्यवाद के प्रति उनके मन में एक ऐसी कटु-सतर्कता लगातार विराजती रही थी कि आभास भी कहीं हो तो सर कलम कर दें। फिर तिलिस्म भेद कर अंतर्वस्तु के खजाने तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं था। जब रहस्य ऊपर ही उतरा रहा था, फिर भीतर पैठने का क्या

[1] रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 342

मतलब! ऊपर से उनके प्रिय प्रतिमान नहीं। लेकिन यह सब एक विशेष आग्रह और अधैर्य का परिणाम था।"[1]

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को असाहित्यिक कह कर भी शुक्ल जी उनकी भूमिका को पाठक से लेखक बनाने के रूप में स्वीकारते हैं- "शुरू-शुरू में 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' पढ़ कर न जाने कितने नवयुवक हिन्दी के लेखक हो गये। 'चन्द्रकान्ता' पढ़ कर वे हिन्दी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।" [2] इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का महत्त्व न केवल पाठक निर्माण की दृष्टि से अपितु लेखक निर्माण की दृष्टि से भी स्वीकार किया। शुक्ल जी को तो बस इनका रहस्यवाद खटकता था। किसी असाहित्यिक रचना से साहित्यिक लेखक पैदा हो जाये यह अपने आप में खत्री जी की साहित्यिक स्वीकृति थी जिसे शुक्ल जी ने ही सबसे पहले स्वीकारा। यद्यपि बच्चन सिंह अपने इतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों के सम्बन्ध में शुक्ल जी के ही विचार आगे बढ़ाते जान पड़ते हैं परन्तु वे इनके मनोरंजन को सामंती संस्कृति से जोड़ने की भूल कर बैठते हैं। उनका मानना है कि "प्रश्न होता है कि इस तरह के उपन्यासों की रचना क्यों की गयी? क्या यह केवल 'तिलिस्म-होशरुबा' के प्रभाव में लिखी गयी, जैसा प्रेमचंद मानते हैं? क्या यह शुद्ध मनोरंजन के लिए निर्मित की गयी, जैसा खत्री का मानना है? कुछ ऐसे कथाकार ऐयार आलोचक हैं जो अपने रंगीन चश्मे से इसमें उसी प्रकार राष्ट्रीयता ढूंढ निकालते हैं जिस प्रकार एक पण्डित वर्ग वेदों में वायुयान-निर्माण की विधि अन्वेषित कर लेता है। मेरे विचार से यह मध्यकालीन सामंती परिवेश का ध्वंस विशेष है जिसमें झूठी लड़ाईयां लड़ी जाती हैं, झूठे वैभव और कृत्रिम शौर्य का प्रदर्शन होता है। अंग्रेजी राज्य की पूर्ण स्थापना के बाद विगत की प्रभावहीन जुगाली की जा सकती है। अपनी हार को तिलिस्म

[1] प्रदीप सक्सेना, तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद –विरोधी चरित्र,पृष्ठ 19
[2] रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 342

की भूल-भुलैया में भुलाया जा सकता है।"[1] बच्चन सिंह ने जिस 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास को सामंती परिवेश का ध्वंस विशेष और विगत की जुगाली भर कहा उसे ही प्रदीप सक्सेना 'यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य' कहते हैं। बच्चन सिंह जिसे रंगीन चश्मे से देखा- ढूँढा गया राष्ट्रवाद कहते हैं प्रदीप सक्सेना उसे साम्राज्यवाद विरोधी और राष्ट्रवादी स्वर की औपन्यासिक रचना मानते हैं। प्रदीप सक्सेना का विचार है- "चन्द्रकान्ता यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य है। वह तिलिस्मी रचना नहीं है। वस्तुत: चंद्रकांता दो युगों के उस संधिस्थल पर खड़ी है, जहां से एक युग ढह रहा है और दूसरा उभर रहा है। एक जा रहा है दूसरा आ रहा है। तब फिर यह कृति दयनीय महानता की नहीं –उस नयी सुबह की पहली दास्तान है, जिसमें उस समय के भारत की अंगड़ाइयां सुरक्षित हैं।"[2]

तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों के मूल्यांकन के सम्बन्ध में हम न तो प्रदीप सक्सेना के विचार, जिसमें 'चंद्रकांता' को 'यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य' कहा गया है और न ही बच्चन सिंह जो इसे 'सामंती परिवेश का ध्वंस विशेष और विगत की जुगाली भर' कहते हैं, से सहमत हो सकते हैं। तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों के सम्बन्ध में स्वयं देवकीनंदन खत्री के विचार हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है जो इनकी रचना का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन को ही मानते हैं। जिस प्रकार से प्रदीप सक्सेना ऐलान करते है- "चन्द्रकान्ता प्रचलित अर्थ में तिलिस्मी उपन्यास नहीं है। इसे कोई तिलिस्मी सिद्ध नहीं कर सकता। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का मूल्यांकन तब तक किया ही नहीं जा सकता, जब तक इस प्रस्थान बिन्दु को छोड़ नहीं दिया जाता।" [3] ऐसे में इन उपन्यासों पर नयी बहस तो हो सकती है पर उस बहस में लेखकीय मंतव्य और स्वीकारोक्ति को भूलना पड़ेगा। अत: सामाजिक मर्यादाओं के भीतर मनोरंजन ही इनका प्रधान उद्देश्य माना जाना चाहिए। जिसमें कल्पना और यथार्थ दोनों की भूमिका है। जो इसे एक तरफ नीरस

[1] बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृष्ठ 303
[2] प्रदीप सक्सेना, तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद –विरोधी चरित्र', पृष्ठ 31
[3] वही, पृष्ठ 30

साहित्य होने से बचाता है तो दूसरी तरफ इसे गुलशन नंदा की सस्ती लोकप्रियता से हटा कर लोकरस का खजाना भी बनाता है। राजा पॉकेट बुक्स द्वारा सम्पादित 'चंद्रकांता' उपन्यास की भूमिका में इस सत्य की ओर संकेत किया गया है- "पंचतंत्र और हितोपदेश आदि के मुकाबले निश्चय ही खत्रीजी की कथा उपदेश प्रधान न हो कर मनोरंजन से अधिक जुड़ी हुई है। खत्रीजी की कथा से उपदेशात्मक साहित्य को धक्का लगा। उपदेश सुनते सुनते ऊब चुके लोगों ने लपककर खत्रीजी के उपन्यासों का स्वागत किया।"[1] देवकीनंदन खत्री ने अपने उपन्यासों के तिलिस्म को इस प्रकार बुना कि यह तिलिस्म मनोरंजन की वस्तु भी बना रहा तो सामाजिक यथार्थ भी। समस्या तो तब खड़ी होती है जब मनोरंजन ही विवादास्पद मसला बन जाता है। 'चंद्रकांता' के उद्देश्य को लेकर भी यही प्रश्न विवाद का एक बड़ा कारण है कि इसका उद्देश्य केवल मनोरंजन है या कोई गम्भीर लक्ष्य भी है। इस मुद्दे पर प्रदीप सक्सेना का मानना है कि –"वस्तुत: मनोरंजन का मसला एक गंभीर और विवादास्पद मसला रहा है। मनोरंजन कहते ही ऐसा लगने लगता है कि कोई बहुत ही घटिया, सस्ता और संकीर्ण रास्ता खुला है। साहित्य तो बड़ी ही गंभीर कोई वस्तु है। पिछले दशक में दर्जनों लेखकों द्वारा ऐसा 'गंभीर लेखन' सामने आया कि जिसकी बारीकियां या तो वे ही समझ सकते हैं या उनके ज़माने वाले ठेकेदार मित्र आलोचक।"[2] प्रदीप सक्सेना को ऐसी धुन चढ़ी कि यथार्थवाद और राष्ट्रवाद की ध्वनि तो बस उन्हें 'चंद्रकांता' उपन्यास में ही सुनाई पड़ी। इस झौंक में वे मनोरंजन से भी आगे इस उपन्यास का साम्राज्यवाद विरोधी तिलिस्म गढ़ने लगे। मनोरंजन के उद्देश्य के साथ तो यथार्थवाद और राष्ट्रवाद की झलक हम इसमें पा सकते हैं परन्तु वह मनोरंजन से अलग नहीं उसके भीतर से ही निकल सकता है। हाँ केवल मनोरंजन के लिए लिखे जाने से आगे सामाजिक मर्यादाओं के साथ जीवन की मार्मिकता के उद्घाटन की दृष्टि से भी 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का मूल्यांकन जरूर होना चाहिए।

---

[1] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता, सम्पादकीय- भूमिका, पृष्ठ 10

[2] प्रदीप सक्सेना, तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद –विरोधी चरित्र, पृष्ठ 42

तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों के मनोरंजन पक्ष पर विचार करने से पहले 'तिलिस्म' और 'ऐयार' शब्द की व्युत्पत्ति और इसके साहित्यिक प्रयोग की पृष्ठभूमि को समझा जाना जरूरी है। 'तिलिस्म' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द 'टेलेस्मा' से हुई है जो अंग्रेजी में 'टेलेस्मन' और अरबी में 'तिलिस्म' बना। जिसका अर्थ है- 'ऐन्द्रजालिक रचना, गाड़े हुए धन आदि पर बनायी हुई सर्प आदि की भयावनी आकृति व दवाओं तथा लग्नों के मेल से बँधा हुआ यन्त्र'। हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार यूनानी शब्द 'टेलिस्माने' से 'तिलिस्म' शब्द की व्युत्पति हुई जिसका अर्थ है - इंद्रजाल,जादू,अलौकिक कारनामे। श्री ब्रजरत्न दास के अनुसार –"आश्चर्यजनक कल्पना जो दिखाई न पड़े,कोष के रक्षार्थ नियत की गयी भयावनी शक्ल या कुछ दवाओं तथा लग्नों के मेल से कोष पर बांधा हुआ यंत्र आदि। यह शब्द अरबी में भी यूनान से आया जान पड़ता है । प्राचीन ग्रीक भाषा में 'टेलेस्मा' शब्द मंत्र-तंत्र के लिए प्रयुक्त होता था,जिससे अंग्रेजी शब्द 'टेलीस्मन' बना है ।"[1] 'चन्द्रकान्ता' के चौथे भाग के बीसवें बयान में ऐयार जीतसिंह के माध्यम से देवकीनंदन खत्री कहते हैं- "तिलिस्मी वही शख्स तैयार करता है, जिसके पास बहुत माल-खजाना हो और वारिस न हो। - - - पुराने जमाने के राजाओं को जब तिलिस्म बाँधने की आवश्यकता होती थी तब ज्योतिषी, कारीगर और तांत्रिक लोग इकट्ठे किये जाते थे। उन्हीं लोगों के कहे मुताबिक तिलिस्म बाँधने के लिए जमीन खोदी जाती थी, उसी जमीन के अन्दर खजाना रखकर ऊपर तिलिस्मी इमारत बनायी जाती थी। उसमें ज्योतिषी, नजूमी, वैद्य, कारीगर और तांत्रिक लोग अपनी ताकत के मुताबिक उसके छिपाने की बंदिश करते थे मगर इसके साथ ही उस आदमी के नक्षत्र एवं ग्रहों का भी खयाल रखते थे, जिसके लिए वह खजाना रक्खा जाता था।"[2] प्रदीप सक्सेना के अनुसार- " तिलिस्म का शाब्दिक और तात्त्विक अर्थ दृष्टिबंधन। इसे हम नजरबंदी भी कह सकते हैं।"[3]

---

[1] एल.आर.शर्मा की पुस्तक 'उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री, पृष्ठ 43

[2] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता, पृष्ठ 202

[3] प्रदीप सक्सेना, तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद –विरोधी चरित्र',पृष्ठ 26

'ऐयार' शब्द अरबी का है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- धूर्त अथवा वेश या रूप बदलकर अनोखे काम करने वाला व्यक्ति। 'ऐयार' उसको कहते हैं जो हर एक फन जानता हो, शक्ल बदलना और दौड़ना उसके मुख्य काम हैं। ऐयारों के सम्बन्ध में खत्री जी ने 'चन्द्रकान्ता' की भूमिका में लिखा है- राजदरबारों में ऐयार भी नौकर होते थे जो कि हरफनमौला, यानी सूरत बदलना, बहुत-सी दवाओं का जानना, गाना-बजाना, दौड़ना, अस्त्र चलाना, जासूसों का काम करना, वगैरह बहुत-सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून बहाये व पलटनों की जाने गंवाये लड़ाई खत्म करा देते थे।''[1] मुस्तफा खां मद्दाह ने 'ऐयार' शब्द का अर्थ बताया है – छली, चालाक, शीघ्रगामी या दूर तक दौड़नेवाला। जो व्यक्ति भौतिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से चपल या चालाक हो उसे अरबी भाषा में ऐयार कहते हैं।"[2] बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' के माध्यम से जिस प्रकार तिलिस्म नामक नवीन तथ्य की उद्भावना की उसी प्रकार 'ऐयार' नामक पात्र भी उन्हीं की देन हैं। खत्री जी के साहित्य में ऐयारों की अपनी आचारसंहिता, नीति, धर्म, सामर्थ्य आदि का विशद वर्णन मिलता है। जो 'ऐयार' अपने ऐयारी के हुनर का उपयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए करता है खत्री जी उसे ऐयार न मानकर डाकू मानते हैं। धनलिप्सा और कामलिप्सा ऐयारी में अधर्म माने गये हैं। खत्री जी के ऐयार इन लिप्साओं से मुक्त और चरित्र के धनी चित्रित किये गये हैं।

संशय और रोचकता भरा मनोरंजन देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की विशेष पहचान है जो पाठक को जीवन के उतार-चढ़ाव के दर्शन शास्त्र का भी बोध कराते हैं - "बहुत सी तकलीफें उठा कर महाराज सुरेन्द्रसिंह और बीरेंद्रसिंह तथा इन्हीं के बदौलत चन्द्रकान्ता, चपला, चम्पा, तेजसिंह और देवीसिंह वगैरह ने थोड़े दिन खूब सुख लूटा मगर अब वह जमाना न रहा। सच है सुख और दुःख का पहरा बराबर बदलता रहता है। खुशी के दिन बात की बात में

[1] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता- भूमिका

[2] एल.आर.शर्मा की पुस्तक 'उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री, पृष्ठ 47

निकल गये कुछ मालूम न पड़ा। यहाँ तक कि मुझे भी कोई बात उन लोगों की लिखने लायक न मिली, लेकिन अब उन लोगों की मुसीबत की घड़ी काटे नहीं कटती। कौन जानता था कि गया गुजरा शिवदत्त फिर बला की तरह निकल आवेगा? किसे खबर थी कि बेचारी चन्द्रकान्ता की गोद से पले पलाये दोनों होनहार लड़के यों अलग कर दिए जायेंगे।"[1]

मनोरंजन के साथ खत्री जी के उपन्यासों में मानवी संवेदना और स्त्री के प्रति सम्मान का पूरा ध्यान रखा गया है। सामाजिक मर्यादाओं के दायरे में ही प्रेम को चित्रित किया गया है। प्रेम के राग-विराग दोनों पक्षों को सूफियाना ढंग से दिखाया गया है, उसमें व्यभिचार के लिए कोई स्थान नहीं है। सात्विक प्रेम का आदर्श खत्री जी के उपन्यासों की सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करता है। पाठक आगे की घटना के लिए उत्सुक रहता है पर उसकी उत्सुकता सात्विक मनोवृत्ति का परिष्कार करने वाली होती है। 'चंद्रकांता' उपन्यास की प्रकाशकीय भूमिका में लिखा गया है -"स्त्रियों के प्रति लेखक को सहानुभूति है। स्त्रियाँ कुछ ही हैं जो बुरी हैं। वे भी प्राय: सौतिया डाह के कारण,किन्तु वे बुराई पर उतरकर कुछ भी करने को तैयार हो जाती है। फिर भी लेखक मुक्त यौनाचार से बचा है। दो –एक औरत ही मुक्त यौनाचार वाली हैं। प्रेम का मूलाधार रूपाकर्षण है। कोई भी विषकन्या नहीं है। वेश्याओं का क्षेत्र भी अत्यंत सीमित है। प्रेम का क्षेत्र विशाल है, किन्तु अनुलोम-प्रतिलोम प्रेम के स्थान पर समान स्तरी प्रेम की प्रधानता है। प्रेम विवाह का पूर्वाधार है। जिससे विवाह नहीं हो सकता उससे प्रेम नहीं होता। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि पूरी कथा राजाओं और सामंतों की है। वे क्षत्रिय हैं। लेखक का न केवल वर्ण व्यवस्था में विश्वास है, बल्कि उसकी कर्मकाण्ड में भी आस्था है। विवाह जाति में ही होता है। छुआछूत भी है। राजकुमार मुसलमान का भोजन नहीं करते, पानी नहीं पीते। बिना स्नान, ध्यान और संध्योपासना के कोई भी व्यक्ति भोजन नहीं करता। हंसी-दिल्लगी और ठिठोली के लिए स्थान

[1] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता संतति, पृष्ठ 22 भाग एक

बिल्कुल नहीं है। शृंगार के दोनों पक्षों में पूर्व राग और वैराग्य मुख्य है।"[1] जहाँ कहीं भी खत्री जी ने प्रेम के मर्यादाहीन और उन्मुक्त भोग चित्रण किया है, वहाँ वे पाठक को चेताते भी है। 'चंद्रकांता संतति' में माधवी के चरित्र के सम्बन्ध में वे पाठक को पहले ही सावधान करते हैं – "आज चारपाई पर लेटे हुए इन्द्रजीत सिंह के पास रहकर उनको अपने जाल में फसाने के लिए उसने क्या क्या काम किये उसे हम अपनी सीधी साधी लेखनी से लिखना पसंद नहीं करते, हमारे मन चले पाठक बिना समझे भी न रहेंगे। माधवी को इस बात का बिल्कुल ख्याल न था कि शादी होने पर ही किसी से हँसना बोलना मुनासिब है। वह जी का आना ही शादी समझती थी। चाहे वह अब तक कुंवारी क्यों ही न हो मगर मेरा जी नहीं चाहता कि मैं कुंवारी लिखूं, क्योंकि उसकी चाल चलन ठीक न थी।यह सभी कोई जानते है कि खराब चाल चलन रहने का नतीजा बहुत बुरा होता है।"[2] खत्री जी इश्क के मिजाज का ऐसा ही चटकदार और रोमांटिक वर्णन करते हैं कि पाठक इश्कमिजाजी हो जाता है परन्तु उसकी वृत्ति सदैव सात्विक ही रहती है। पाठक को मर्यादा और नैतिकता की लगाम से कसे रखकर ही वे रोमानियत की ओर बढ़ते हैं- "इश्क भी क्या बुरी बला है। हाय, इस दुष्ट ने जिसका पीछा किया उसे ख़राब करके छोड़ दिया है और उसके लिए दुनिया भर के अच्छे पदार्थ बेकाम और बुरे बना दिए। छिटकी हुयी चाँदनी उसके बदन में चिनगारियां पैदा करती है। शाम की ठंडी हवा उसको लू सी लगती है, खुशनुमा फूलों को देखने से उसके बदन में कांटे चुभते है, बाग की रविशों पर टहलने से पैरों में छाले पड़ते है।नरम बिछावन पर पड़े रहने से हड्डियाँ टूटती है और वह करवटें बदल कर भी किसी तरह आराम नहीं ले सकता।"[3]

'चंद्रकांता' उपन्यास में घटना -कौतूहल का ऐसा शिल्प संयोजन है कि पाठक की संवेदना को छूकर उपन्यास रस की धारा प्रवाहित कर देता है। अनिष्ट की घटना से इष्ट का सौन्दर्य सृजन पाठक के अंतर्मन को भा जाता है। इस

[1] चंद्रकांता, भूमिका पृष्ठ 10
[2] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता संतति, पृष्ठ 56 भाग एक
[3] वही, पृष्ठ 23 भाग तीन

उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पाठक अविश्वसनीय को विश्वसनीय मानकर मनोरंजन से आगे निकल भावों की भूमि पर उतर जाता है। तिलिस्म और ऐयारी की घटनाएँ उसे कल्पना की उड़ान न लगकर जीवन का वितान लगने लगती हैं। उपन्यास की परिभाषा में जो अविश्वसनीय की विश्वसनीयता की बात कही गयी है वह 'चंद्रकांता' को एक विशिष्ट उपन्यास बनाती है। गोपाल राय ने खत्री जी उपन्यासों की इस विशेषता पर लिखा है – "वस्तुत: खत्री जी की अतिशय लोकप्रियता का रहस्य ऐयारी और तिलिस्म के करिश्मों में नहीं, जितना उन करिश्मों के विश्वसनीय वर्णन में है, जिसके कारण वे कहानी नहीं, तथ्य मालूम पड़ते हैं। देवकीनंदन खत्री ने अपने पाठकों में यह सुखद भ्रम पैदा किया कि वे बैतालपच्चीसी या तोता मैना के ढंग की कपोलकल्पित कथाएं नहीं, वरन सत्य कथाएं पढ़ रहे हैं।"[1]

खत्री जी के उपन्यासों में मनोरंजन के बीच व्यावहारिकता इस तरह समाई है कि पाठक कब हँसी की दुनिया से निकल गंभीर व्यवहार की सीख में खो जाता है और कब प्रेम के माया जाल से निकल जीवन के जंजाल की यथार्थ भूमि का अनुगामी बन जाता है इसका उसे पता ही नहीं रहता है। 'चंद्रकांता संतति' में कृष्ण जिन्न और किशोरी के बीच संवाद इसी का उदहारण है। कृष्ण जिन्न कहता है – "जब अहसान और उसके बदले का ख्याल आ गया तो मुहब्बत कैसी और प्रेम कैसा? मुहब्बत और प्रेम में अहसान और बदला चुकाने का तो ख्याल ही नहीं होना चाहिए। यह तो रोजगार और लेने देने का सौदा हो गया! - - - अगर तुम्हारा ऐसा मिजाज है तो और बदला चुकाए जाने की तुम ऐसी ही भूखी हो तो बस हो चुका। तुम्हारे हाथों से किसी गरीब, असमर्थ या दीन-दुखिया का भला कैसा हो सकता है क्योंकि उसे तो तुम बदला चुकाने लायक समझोगी ही नहीं ।"[2]

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की ऐयारी की कला मनोरंजन ही नहीं तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से भी उपयोगी कही जा सकती है।

---

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास- पृष्ठ 73

[2] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता संतति, पृष्ठ 232

ऐयारी के उपन्यासों में बुद्धि का खेल महत्वपूर्ण है। वैयक्तिक जीवन को धोखे से बचाने के प्रति सावधानी तो देता ही है। राष्ट्रीय जीवन में आत्मविश्वास भी पैदा करता है। निश्चय ही उस समय के क्रांतिकारियों पर इसका प्रभाव पड़ा होगा। वे क्रन्तिकारी जो अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने के लिए विभिन्न रासायनिक नुस्खों का प्रयोग कर रहे थे। 'चंद्रकांता' में सिर्फ शृङ्गार ही नहीं शौर्य का भी सन्देश मिश्रित है। इसमें जिदंगी के मौजमस्ती के पल ही नहीं क्षात्र धर्म का त्याग भी मनोरंजन के साथ पाठक के हृदय में उतरता है। वीरेन्द्र सिंह की माँ के माध्यम से खत्री जी क्षात्र धर्म की महत्ता का वर्णन कर एक तरह से राष्ट्रधर्म का सन्देश दे रहे थे, "बेटा जाओ वीर पुरुषों में नाम करो, क्षत्रिय कुल का नाम रख फतह का डंका बजाओ। शूरवीरों का धर्म है कि लड़ाई के वक्त माँ-बाप, ऐश-आराम किसी की मोहब्बत नहीं करते, सो तुम भी जाओ, ईश्वर करे लड़ाई में बैरी तुम्हारी पीठ न देखे।"[1]

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की सामाजिकता उपदेशात्मक रचना के रूप में नहीं हैं, परन्तु उनका मनोरंजन सस्ती लोकप्रियता हासिल करने का प्रयास तो कतई नहीं है। वे पाठक को न तो नीरस उपदेश देते हैं। वे घटनाओं के द्वारा ही पाठक के अंतर्मन में घुस कर उसे कर्मफल का महत्त्वपूर्ण सन्देश देते हैं। गोपाल राय मानते हैं "खत्री जी के उपन्यासों में हिन्दू धर्म के कर्मफलवाद का सिद्धांत का, कथा और पात्रों के वार्तालाप दोनों रूपों में, प्रतिपादन कराया गया। इनमें एक भी ऐसा खल पात्र नहीं है जिसे दण्ड नहीं मिला हो और कोई सत्पात्र ऐसा नहीं हैं जिसे, आजीवन कष्ट पाते रहने पर भी, अंतत: सुख समृद्धि न प्राप्त हुई हो। खत्री जी के समय के अनेक उपन्यासकार सस्ती लोकप्रियता के लिए, अवसर मिलते ही, स्त्री-पुरुष की कामचेष्टाओं का वर्णन किये बिना नहीं रहते। पर खत्री जी इससे परहेज करते हैं। नवविवाहित प्रेमी-प्रेमिकाओं की सुहागरात के वर्णन में भी खत्री जी अद्भुत संयम का परिचय देते हैं।"[2]

---

[1] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता,पहला भाग,बाईसवां बयान, पृष्ठ 59

[2] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 74

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों के कर्मफल की थ्योरी पर एल०आर० शर्मा भी गोपाल राय से मिलती-जुलती राय रखते हैं। वे लिखते हैं – "इनके उपन्यासों में कर्मफल से कोई भी नहीं बचता। इनका सारा आकर्षण विस्मयजनक घटनाओं की योजना पर निर्भर करता है। उद्देश्य केवल मनोरंजन होता है।श्री देवकीनंदन खत्री तिलिस्मों के लिए फ़ारसी के 'तिलिस्म-होशरुबा' के ऋणी हैं। पर अपनी स्वतंत्र कल्पना के आधार पर हिन्दी में 'चंद्रकांता' के रूप में उन्होंने मौलिक कृति दी है।"[1]

खत्री जी रोमांटिकता के भावावेश में पाठक को ले जाते समय उसके सामने शौर्य का मैदान भी ले आते हैं जिससे वह भटकन का शिकार न होकर अपने सामने बहादुरी का विकल्प पाता है। 'चंद्रकांता' व 'चंद्रकांता संतति' में जीवन की व्यावहारिकता तिलिस्म-ऐयारी के आश्चर्यों में दब नहीं पाई है। उपन्यासकार ने कहीं पर भी अपनी बात कहने के लिए शास्त्र का सहारा नहीं लिया है। जैसा कि उनके दौर के उपन्यासकार कर रहे थे। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती', 'परीक्षा-गुरू' आदि उपन्यास अपने सुधारवाद के लिए बार-बार शास्त्र की ही दुहाई देते जान पड़ते हैं। सच तो यह है कि सुधारवादी उपन्यास अपने सुधारवाद के गाम्भीर्य के चक्कर में नीरस और अप्रभावी भी बन गये जबकि खत्री जी के उपन्यास मनोरंजनपरक होकर भी सुधार का कार्य बड़े ही सहज रूप में करते रहे।

'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' उपन्यासों के मनोरंजन पक्ष को उस समय के पाठक समुदाय को ध्यान में रख कर समझना होगा। उस समय के हिन्दी के धुरन्धर लेखक भी पाठक अभाव के संकट से जूझ रहे थे। देवकीनंदन खत्री ने इस सम्बन्ध में 1905 ई० में लिखा था। जिसका उल्लेख गोपाल राय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में किया है – "जिस समय मैंने चंद्रकांता लिखनी आरम्भ की थी उस समय कविवर प्रताप नारायण मिश्र और पंडितप्रवर अम्बिकादत्त व्यास जैसे धुरन्धर सुकवि और सुलेखक

[1] एल०आर० शर्मा, उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री, पृष्ठ 14

विद्यमान थे । - - - उस समय हिन्दी के लेखक थे परन्तु ग्राहक न थे ,इस समय ग्राहक हैं पर वैसे लेखक नहीं हैं। मेरे बहुत से मित्र हिन्दुओं की अकृतज्ञता का यों वर्णन करते हैं कि उन्होंने हरिश्चंद्र जी जैसे देशहितैषी पुरुष की उत्तम-उत्तम पुस्तकें नहीं खरीदी। पर मैं कहता हूँ कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी भाषा को थोड़ा सरल करते तो हमारे भाईयों को अपने समाज पर कलंक लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और स्वाभाविक शब्दों के मेल से हिन्दी की पैसिंजर भी मेल बन जाती। - - - मेरी हिन्दी किस श्रेणी की हिन्दी है, इसका निर्धारण मैं नहीं करता परन्तु मैं यह जानता हूँ कि इसके पढ़ने के लिए कोश की तलाश नहीं करनी पड़ती।"[1]

देवकीनंदन खत्री के उपन्यास किस प्रकार मनोविनोद से आगे निकल जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति और मानवी मनोबल को बढ़ाने वाले बने यह अपने आप में हिन्दी उपन्यास साहित्य की मिसाल है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में स्त्री और पुरुष दोनों के आदर्श पाठक के सामने रहते हैं। सज्जनता और दुष्टता के परिणाम साथ लिए उपन्यास की प्रेम कहानी पाठक के मन में बस जाती है। इसमें शृङ्गार के साथ शौर्य का जीवन दर्शन जुड़ा है, मनोरंजन के साथ जीवन का सार जुड़ा है। 'चन्द्रकान्ता' में 'बुराई का फल बुरा' का दर्शन इस प्रकार समाया है कि दुष्ट पात्रों को इसका भोक्ता बना कर उपन्यासकार ने जीवन के उचित-अनुचित पक्ष से पाठक का परिचय करवाया।

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की व्यापक पाठक स्वीकृति सिर्फ तिलिस्म और ऐयार के कौतूहल के सहारे ही नहीं हुई है। वे उपन्यास के उस मूल को बड़ी सजगता से साधते हैं जिसमें अविश्वसनीय को भी पाठक विश्वसनीय मानने लगता है। कल्पना उसे यथार्थ का बहिष्कार नहीं एक नवीन यथार्थ का आविष्कार लगती है। वो उपन्यास की घटनाओं को कल्पना जन्य नहीं, संभावित सत्य के रूप में लेता है। खत्री जी ने 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' में इतिहास और भूगोल का ऐसा ही कल्पना जनित यथार्थ पाठक के सामने रखा है। तिलिस्म और ऐयारी के कारनामों का कौतूहल कभी भी

[1] गोपाल राय,हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 70

पाठक को कल्पना का मायाजाल और असम्भाव्य वर्णन नहीं लगता है। खत्री जी का स्वयं का व्यावसायी अनुभव भी उनके उपन्यासों के भूगोल का आधार बना। जंगलों की ठेकेदारी करते हुए उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये उसी का सहारा लेकर वे अपने उपन्यासों के भूगोल को रचते हैं। खत्री जी भूगोल के सत्य में हेरफेर नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते थे कि इतिहास की कल्पना को विश्वसनीय बनाए रखने के लिए भूगोल का यथार्थ आवश्यक है। चंद्रकांता उपन्यास में वे इतिहास को भूगोल के सहारे ही पाठक को समझाते हैं या यूं कहें कि उनका इतिहास का तिलिस्म भूगोल के यथार्थ से ही टूटता है।

'चंद्रकांता संतति' में भी खत्री जी इतिहास के तिलिस्म में घुसने के लिए भूगोल का प्रयोग करते हैं। जब भी उपन्यास में जंगल का वर्णन आता है खत्री जी उपन्यासकार से भूगोलवेत्ता बन जाते हैं। वे ऐसा जीवंत दृश्य निर्माण करते हैं कि पाठक उसमें खो जाता है। सत्य के सहारे मिथक का रोचक वर्णन देवकीनंदन खत्री की उपन्यासकला की अद्‌भुत विशेषता है जिसका प्रयोग वे अपने सभी उपन्यासों में करते हैं। खत्री जी ऐसे ही पाठक के चित्त का भाव बदलते हुए उसे तिलिस्म और ऐयारी की रोचक और मनोरंजक किस्सों की दुनिया में ले जाते हैं और वह सहज ही खिंचा चला जाता है। फिर शुरू होता है खत्री जी के तिलिस्मी मायालोक का संसार जिसमें मनोरंजन भी है और साथ ही मर्यादा और नैतिकता का भू-लोक भी। ऐयारी प्रधान होने के कारण 'चन्द्रकान्ता' में ऐयारों की चालों, फनों और घात-प्रतिघातों का बड़ा ही सजीव, रोचक और चमत्कारिक वर्णन मिलता है।

देवकीनंदन खत्री के उपन्यास एक प्रकार से सामाजिक आचार-संहिता का निर्माण करते हैं। उनकी आचार-संहिता भारतीय राजनीति की चुनावी आचार- संहिता नहीं हैं जिसे तोड़ कर ही चुनाव जीते जाते हैं। उनकी आचार-संहिता सामाजिक व्यवहार का पहला पाठ जिसके बाहर जाने की ईजाजत नहीं हैं। उनके उपन्यासों की इस आचार-संहिता को हम सामाजिक व्यवहार के नियम कह सकते हैं जो समाज को अराजकता से बचाते हैं। ऐयारों की फैंटेसी दुनिया भी पूरी तरह आचरण-संहिता से संचालित और

मर्यादित है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में यह आचरण-संहिता ही ऐयार-संहिता के रूप में हैं।

देवकीनंदन खत्री के उपन्यास इस सत्य के पक्षधर हैं कि जीवन का सौन्दर्य वीरता और बहादूरी है न कि अमानवीय हिंसा। कोई भी सभ्य समाज मानवीय हिंसा को तो सहन कर सकता है पर हिंसा के अमानवीय रूप को नहीं। 'चन्द्रकान्ता संतति' में खत्री जी ने ऐयारों के सम्बन्ध में इसी आचरण का ध्यान रखा है- "यह बहुत ही बुरा हुआ, दुश्मन समझेंगे कि दिग्विजयसिंह ने जान बूझ कर हमारे ऐयार को मार डाला जो कायदे के बाहर की बात है। दुश्मनों को अब हमसे जिद्द हो जायेगी और वे भी कायदे के खिलाफ बेहोशी की जगह जहर का बर्ताव करने लगेंगे तो हमारा बड़ा नुकसान होगा और बहुत आदमी जान से मारे जायेंगे।"[1]

वस्तु-संगठन में उत्सुकता और कौतूहल की प्रधानता, पात्रों के सृजन में विविध क्षेत्रों से उनका चयन, बातचीत के संवाद, चुनार, विजयगढ़, नौगढ़ आदि की नदियों, तालाबों, बावड़ियों, खोहों, टीलों, खण्डहरों, पक्षियों, वृक्षों आदि का चित्रात्मक शैली में प्रकृति-चित्रण, युगीन परिस्थितियों का अप्रत्यक्ष रूप में अंकन, बोलचाल की सजीव भाषा, आदर्श चरित्रों की सर्जना द्वारा नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि 'चन्द्रकान्ता' की कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं, जो लेखक के जीवन अनुभव, कल्पना की विस्मयकारी उड़ान तथा कथा-निर्माण की अद्भुत क्षमता की परिचायक हैं। वस्तुत: तिलिस्म और ऐयारी के सूत्रों से गुंथी हुई प्रेम और रोमांस की यह औपन्यासिक कथा हिन्दी के घटना-प्रधान रोमांचक और मनोरंजक उपन्यासों की ऐसी शुभ शुरूआत थी, जिसने असंख्य पाठकों को हिन्दी भाषा का प्रेमी बना दिया और हिन्दी उपन्यास को दृढ़ आधारशिला प्रदान की।

'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का मूल्यांकन करते समय उन्हें घटनाप्रधान- कौतूहलवर्द्धक मनोरंजक उपन्यास से आगे जीवन का

[1] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता संतति, भाग चार, पृष्ठ 16

व्यावहारिक और मर्यादित चित्र प्रस्तुत करने वाली औपन्यासिक रचनाओं के रूप में देखा जाना चाहिए। प्रदीप सक्सेना से असहमत होकर भी जो 'चन्द्रकान्ता' को "यथार्थवाद के प्रथम उत्थान महाकाव्य" कहते हैं, हम यह कह सकते हैं कि 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' मर्यादित मनोरंजन के महाकाव्यात्मक उपन्यास हैं। उपन्यासकार की मनोरंजन की प्रवृत्ति को सामाजिक दबाव को हल्का करने की दृष्टि से समझने की जरूरत है। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास मनोरंजन का मसाला ही नहीं हैं, सामाजिक व्यवहार की मिसाल भी स्थापित करते हैं। यद्यपि बच्चन सिंह घुमाफिराकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की बात का पल्ला-पकड़ इनका विरोध करते हैं पर यह विरोध एक तरह से भारतीय राजनेताओं के 'विरोध के लिए विरोध' जैसा जान पड़ता हैं। डॉ०बच्चन सिंह "साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद" में लिखते हैं –"इधर साहित्यिकों के नए मार्क्सवादी गिरोह में शामिल लोगों ने तिलिस्मी उपन्यासों में राष्ट्रीयता और सामाजिकता खोज निकाली हैं। बालू में से तेल निकालना इसे ही कहते हैं। सच तो यह है कि ये उपन्यास शुद्ध मनोरंजन की वस्तु थे। प्रेमचंद को इनका विरोध करना पड़ा था। पाठक पैदा करने की दृष्टि से इनका चाहे जो मूल्य हो, युग चेतना और साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं हैं। पाठकों ने इनका खूब स्वागत किया। पर इससे उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।"[1]

डॉ. बच्चन सिंह 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का मूल्यांकन करते समय एक पक्षीय दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे लेखक के लिए पाठक पक्ष को गौण करके देखते हैं। साहित्य का पाठक प्रिय होना उसका सामाजिक नकार नहीं स्वीकार है। सही बात तो यह है कि बच्चन सिंह साहित्य के सामाजिक पक्ष में सिर्फ गंभीर लेखन ही देख रहे हैं। वे साहित्य के मनोरंजन पक्ष को नकार कर एक तरह से समाज के मनोरंजनपरक मनोविज्ञान को ही गलत साबित कर देते हैं। उन्हें चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता संतति में युग चेतना का अभाव दिखाई पड़ता है इसलिए वे उनकी साहित्य चेतना पर भी सवाल खड़े करते

[1]डॉ०बच्चन सिंह, साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद, पृष्ठ 05

हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विरोध तो तिलिस्म और ऐयारी जनित रहस्यवाद से था। वे मनोरंजन की प्रवृत्ति को साहित्य से अलगाते नहीं हैं जबकि बच्चन सिंह शुद्ध मनोरंजन के आधार पर ही इन्हें अशुद्ध साहित्य या असाहित्यिक ठहराते हैं।

बच्चन सिंह मनोरंजनपरक साहित्य और अश्लील साहित्य को एक ही मान लेते हैं या जानबूझकर देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों के सम्बन्ध में इनके मनोरंजन को निम्नकोटि का मानते हैं। वे 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' के मनोरंजन की सामाजिक और नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा करते हैं जबकि ये उपन्यास एक तरह से मनोरंजन ही नहीं समाज के आचरण की आदर्श आचार-संहिता प्रस्तुत करते हैं। अश्लील साहित्य बनने की अपार संभावनाओं के क्षेत्र को चुनकर भी देवकीनंदन खत्री अपने उपन्यासों को श्लील और मर्यादित मनोरंजन की प्रवृत्ति से कभी विलग नहीं होने देते हैं। हां इतना जरूर है कि वे अपने उपन्यासों को गंभीरता के लबादे से बचाकर चलते हैं जिसको ढोना न तो उस दौर में संभव था और न आज। बच्चन सिंह अपने युग सत्य के अभिव्यक्ति मॉडल पर इन उपन्यासों को ख़ारिज करते हैं जबकि साहित्य का पाठक पक्ष भी युग सत्य से अलग नहीं है। उपन्यासकार का लेखन स्वयं अपने लिए तो होता नहीं, ऐसे में पाठक के स्तर और समाज की वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर लिखना युग सत्य नहीं तो और क्या है?

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का मनोरंजन पक्ष किसी दूसरे लोक की कल्पना नहीं, इसी लोक का जीवन सौन्दर्य हैं। वे हिन्दी के लिए पाठक जुटा रहे थे और पाठक का रुचि परिष्कार भी कर रहे थे। देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की साहित्यिक उपयोगिता को भुलाकर हम हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचंद के आगमन की युग सत्य की कहानी को नकार रहे होते हैं। प्रेमचंद के उर्दू से हिन्दी आगमन में पाठक उपलब्धता भी एक बहुत बड़ा कारण था। यानि प्रेमचंद भी पाठक को ध्यान में रख कर ही लेखन कर रहे थे फिर खत्री जी की पाठक प्रियता पर सवाल खड़े करने का क्या औचित्य। गोपाल राय ने लिखा है –"यह मानना असंगत न होगा कि प्रेमचंद को हिन्दी में लाने का श्रेय,परोक्ष

रूप से देवकीनंदन खत्री को भी है। खत्री जी ने पाठक वर्ग के निर्माण के रूप में आवश्यक उपजाऊ जमीन तैयार कर दी जिस पर प्रेमचंद ने उपन्यास की समृद्ध फसल उगाने में सफलता प्राप्त की।"[1]

देवकीनंदन खत्री अपने उपन्यासों के तिलिस्म को यथार्थ से कभी अलग नहीं होने देते हैं। वे तिलिस्म वर्णन में पाठक को विज्ञान के युग में यह सब संभव है के द्वारा ही अपनी बात का विश्वास कराते हैं न कि मिथकीय पुरा-लोक के सहारे कल्पना की खुली उड़ान भरते हैं। वे तिलिस्म-ऐयारी की सीमाओं के सम्बन्ध में सदैव सजग रहे तभी तो तिलिस्म का बेताज बादशाह यह स्वीकार भी करता है कि- "हमारे पाठकों में बहुत से ऐसे हैं जिनकी रुचि अब तिलिस्मी तमाशे की तरफ कम झुकती है परन्तु उन पाठकों की संख्या बहुत ज्यादे है जो तिलिस्म के तमाशे को पसंद करते हैं और उनकी अवस्था विस्तार के साथ दिखाने अथवा लिखने के लिए बराबर जोर दे रहे हैं। इस उपन्यास में कुछ तिलिस्मी बातें लिखी गयी हैं, यद्यपि वे असम्भव नहीं हैं और विज्ञानवेत्ता अथवा साइंस जानने वाले जरूर कहेंगे कि 'हाँ ऐसी चीजें जरूर तैयार हो सकती है', तथापि बहुत से अनजान आदमी ऐसे हैं जो इसे बिलकुल खेल ही समझते हैं और कई इसकी देखा-देखी अपनी लिखी अनूठी किताबों में असम्भव बातें लिखकर तिलिस्म के नाम को बदनाम भी करने लग गये हैं, इसलिए हमारा ध्यान अब तिलिस्म लिखने की तरफ नहीं झुकता।"[2]

देवकीनंदन खत्री की तिलिस्म को बदनाम करने की चिंता उनके सामाजिक पक्ष और मनोरंजन की सामाजिक मर्यादाओं का ही प्रबल प्रमाण है। वे पाठक जुटाने के लिए ही नहीं लिख रहे थे या उनका उद्देश्य व्यावसायिक भर नहीं था, इससे आगे की सोच लेकर भी उनका उपन्यास लेखन चल रहा था। यह उनकी उपन्यास कला का कमाल था कि यथार्थ कब मनोरंजन की शक्ल में आ जाये या मनोरंजन कब यथार्थ की सटीक अभिव्यक्ति बन जाये इसका पाठक को ध्यान ही नहीं रहता है। वे गंभीर उपदेश नहीं देते हैं पर मनोरंजन के बीच

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 71

[2] देवकीनंदनखत्री, चन्द्रकान्ता संतति,भाग इक्कीस-पृष्ठ 70

जीवन का व्यावहारिक सन्देश देना भी नहीं भूलते हैं- "जब आदमी के पास दौलत होती है या जब आदमी अपने दर्जे या ओहदे पर कायम रहता है तब सभी कोई उसकी इज्जत करते हैं मगर रुपया निकल जाने या दर्जा टूट जाने पर फिर कोई नहीं पूछता, संगी साथी सब दुम दबाकर भाग जाते हैं, भले आदमी उससे बात करना अपनी बेइज्जती समझते हैं। चाचा कहने वाला भतीजा कह के भी पुकारना पसंद नहीं करते, दोस्त साहब-सलामत तक छोड़ देते हैं बल्कि दुश्मनी करने पर उतारू हो जाते हैं, और नौकर चाकर केवल सामना ही नहीं करते बल्कि खुद मालिक की तरफ आँखें दिखाते हैं।"[1] मनोरंजन के तिलिस्मी - ऐयारी कथा विधान के साथ घटना प्रधान जासूसी उपन्यासों का लेखन भी हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की एक विशेष प्रवृत्ति मानी जाती है।

हिन्दी के जासूसी उपन्यासों के प्रवर्त्तक बाबू गोपालराम गहमरी हैं। यद्यपि जासूसी उपन्यास उतने सफल नहीं हुए जितने तिलिस्मी उपन्यास। फिर भी मनोरंजन का इनका फार्मूला भी पाठकों के बीच स्वीकार किया गया। तिलिस्म से जासूसी की ओर बढ़े हिन्दी उपन्यास को गोपाल राय ऐसे स्पष्ट करते हैं-" गहमरी जी ने हिन्दी में उत्पन्न नए पाठक वर्ग को, जो ऐयारी-तिलिस्म प्रधान रोमांसों में लीन था, स्वाद बदलने के लिए अपराध प्रधान और जासूसी कथाएं उपलब्ध करयीं। इन कथापुस्तकों का नयापन यह था कि इनके केंद्र में तिलिस्मी कथा की तरह कोई प्रेमकथा न होकर कोई 'अपराध' होता था। इस बीच अँगरेजी के लेखक कॉनन डायल की जासूसी कथा पुस्तकें अन्य भाषाओं में अनूदित होकर काफी लोकप्रिय हो रही थी। बंगला इनमें सबसे आगे थी। इन कथाओं में एक तरह की आधुनिकता थी। इनमें बौद्धिक क्रीड़ा के लिए अपरिमित अवकाश था। आधुनिक अपराध शास्त्र और अपराध मनोविज्ञान के विकास ने जासूसी कथाओं के लिए अनन्त संभावनाएं प्रस्तुत कर दी थीं। जासूसी कथाओं में रहस्य-निर्माण और उसके उद्घाटन के लिए सूक्ष्म पर्यवेक्षण, विलक्षण बुद्धिमता तथा निर्दोष तर्क श्रृंखला अपेक्षित होती

[1] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता संतति, भाग दस,पृष्ठ 75

है। गहमरी जी को पाँचकौड़ी दे द्वारा अँगरेजी से बंगला में अनूदित जासूसी कथापुस्तकों से भी, जासूसी कथा लेखन की प्रेरणा मिली होगी। उन्होंने उनकी अनेक पुस्तकों के रूपांतरण भी कर लिए थे। स्वयं गहमरी जी की भी जासूसी-कर्म में थोड़ी बहुत रुचि थी जिसका पता उनकी भूमिकाओं और संस्मरणों से मिलता है।"[1]

गहमरी जी अपनी रचनाओं में पाठकों की रुचि का विशेष ध्यान रखते थे कि वे किस तरह की सामग्री पसंद करते हैं। साहित्य के संदर्भ में उनके विचार भी उच्च कोटि के थे। वे साहित्य को भी इतिहास मानते थे। उनका मानना था कि साहित्य जिस युग में रचा जाता है, उसके साथ उसका गहरा संबंध होता है। वे उपन्यास को अपने समय का इतिहास मानते थे। उनके जासूसी उपन्यास 'गुप्तचर', 'बेकसूर की फाँसी', 'सिरकटी लाश', 'डबल जासूस' 'केतकी की शादी', 'हम हवालात में', 'तीन जासूस', 'चक्करदार खून', 'ठन ठन गोपाल', 'गेरुआ बाबा', 'मरे हुए की मौत' आदि में केवल रहस्य रोमांच ही नहीं हैं, बल्कि युग की संगतियां और विसंगतियां भी मौजूद हैं। समाज की दशा और दिशा का आंकलन भी है। यह कहकर कि वे जासूसी और केवल मनोरंजक रचनाएं हैं, उनकी रचनाओं को खारिज नहीं किया जा सकता है, न उनके अवदान से मुंह मोड़ा जा सकता है। गहमरी जी के बाद की पीढ़ी को जो लोकप्रियता मिली, उसका बहुत कुछ श्रेय देवकीनंदन खत्री और गहमरी जी को ही जाता है। इन्होंने अपने लेखन से वह स्थितियां बना दी थी कि लोगों का पढ़ने की ओर रुझान बढ़ गया था। जासूसी उपन्यासों के मनोरंजन में बुद्धिकौशल और कानून की प्रक्रिया पाठक का ज्ञान वर्धन करती है। इनमें कौतूहल की प्रवृत्ति कम और कौशल का विवेक अधिक प्रधान हो जाता है।

तिलिस्मी उपन्यास एक तरह से आदर्श की भावनात्मक अभिव्यक्ति है तो जासूसी उपन्यास अपराधी की बुद्धिमतापूर्ण खोज। जासूसी उपन्यास का आरम्भ ही किसी अपराध से होता है। अत: पाठक के मन में कौतूहल और औत्सुक्य प्रारंभ में ही जग उठता है। इसकी कथा अन्य उपन्यासों से विपरीत

[1]गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 98

दिशा में चलती है। पाठक यह पहले ही जान जाता है कि अपराध हुआ है और अपराधी पकड़ा जायेगा, फिर भी उसकी कौतूहल वृत्ति में कोई व्यवधान नहीं पहुंचता। जासूसी उपन्यास के कथाभाग का मध्य वह होता है जहाँ पर जासूस अपराधी की भूलों से तथा अपनी खोजबीन से अपराधी का पता लगाने का प्रयास करता है। इसे हम अपराधी और जासूस का संघर्ष भाग भी कह सकते हैं। जासूसी उपन्यास की चरमसीमा वहाँ होती है जहाँ अपराधी पकड़ा जाता है।लेखक अपराधी को पकड़ कर कानून के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता है।यह निर्विवाद सत्य है कि कानून के प्रति सजग देशों ने जासूसी प्रवृत्ति को मजबूत बनाया है और वहाँ के लेखकों ने जासूसी उपन्यासों के लेखन द्वारा समाज का मनोरंजन कराया और उसे सजग-सावधान भी किया। जो लोग यह कहते हैं कि जासूसी उपन्यास तो खून,चोरी और डाका डालना सिखाते हैं और तिलिस्मी उपन्यास ऐयारी, यह उनकी भ्रामक धारणा है। आज जासूसी अपराध की दुनिया तक ही नहीं अपितु राष्ट्रवाद के साथ भी जुड़ी है। ऐसे में तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के उद्देश्य को सिर्फ सस्ता मनोरंजन कह देना इनके लेखकों की सामाजिक भावना की एक प्रकार की हत्या है। जिन्होंने मनोरंजन को हल्केपन से उठाकर सामाजिक उपयोगिता से जोड़ा। समाज को नैतिकता और नेकी का पाठ पढ़ाकर उपन्यास की सामाजिकता को मजबूत किया। कृष्णा मजीठिया ने अपनी शोध पुस्तक 'हिन्दी के तिलस्मी और जासूसी उपन्यास' में इनके सामाजिक उद्देश्य को ऐसे स्पष्ट किया –"इन उपन्यासों की फलश्रुति सत्य और न्याय की विजय है।झूठ और फरेब न तो अधिक समय तक छिप सकता है और न ही उसे छुपाया जा सकता है। जासूस अपने श्रम और अनवरत खोजों से यह साबित कर देता है कि अंत में कानून की विजय होती है। अपराधी की योग्यता से आखिर कानून के हाथ लम्बे होते हैं अत: अपराधी एक न एक दिन तो कानून के शिकंजे में आता ही है। (यद्यपि समाज में वास्तविकता इससे भिन्न देखने को मिलती है) अब यदि पाठक उपन्यास के इस उद्देश्य को छोड़कर अन्य बातों में रस लेता तो यह पाठक की

निजी मनोवृत्ति की परिणिति है। इसमें उपन्यास का दोष नहीं।"[1] यद्यपि कृष्णा मजीठिया की बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता है। पाठक की मनोवृत्ति निजी होते हुए भी उपन्यासकार की यह जिम्मेदारी रहती है कि वह पाठक की मनोवृत्ति का परिष्कार करे। अगर पाठक रचना के मूल उद्देश्य से भटकता है तो यह लेखकीय कमजोरी है। पाठक उतना ही देखता है जितना लेखक उसे दिखाता है। लेखक और पाठक का यही तालमेल उसकी रचना की सफलता का आधार होता है। अगर पाठक रचना से कुछ अलग ही ग्रहण कर रहा है तो इसमें लेखक के रचना कौशल की असफलता है। लेखक का कार्य सिर्फ लिख देना भर नहीं है उसे पाठक के लिए विश्वसनीय बनाना भी है। विश्वसनीयता का अर्थ यही है कि पाठक उसे उसी रूप में ग्रहण करे जिस रूप में लेखक उसे ग्रहण करवाना चाहे। अगर पाठक लेखक के मंतव्य से भिन्न अर्थ ग्रहण कर रहा है तो लिखना ही निरर्थक हो गया। गद्य तो विचार प्रधान विधा है ऐसे में पाठक का लेखक से अलग निजी व्यक्तित्व नहीं होता है। कविता में तो इसकी सम्भावना हो सकती है और होना भी चाहिए, पर उपन्यास जैसी विधा जो यथार्थ की विश्वसनीय अभिव्यक्ति के सहारे पाठक के मन में उतरती है उसमें छूट संभव नहीं है। उपन्यास में पाठक लेखक का अनुगामी रह कर ही सन्देश ग्रहण करता है। एक तरह से लेखक के 'विजन' का पाठक के जेहन में उतरना ही उपन्यास की सफलता है।

पाठक को नियंत्रण में रखने के लिए गंभीर लेखन की प्रशंसा की जाती रही है। साहित्य में लेखक क्या लिखता है, से ज्यादा पाठक क्या ग्रहण कर रहा है, का महत्त्व अधिक है। यही साहित्य की सामाजिकता है, जिसमें पाठक, सृजन का पुनर्सृजन तो कर सकता है पर सृजन का विसर्जन नहीं कर सकता। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की मनोरंजन की प्रवृत्ति का मूल्यांकन करते समय इनकी सामाजिकता और मर्यादित मनोरंजन के पक्ष पर विचार होना चाहिए। ये शुद्ध मनोरंजन के लिए लिखे जा कर भी इनकी प्रवृत्ति असामाजिक नहीं है। ये उपन्यास मनोरंजन के द्वारा पाठक के चित्त के उज्ज्वल पक्ष का बहिष्कार नहीं

[1] कृष्णा मजीठिया, हिन्दी के तिलस्मी और जासूसी उपन्यास, पृष्ठ 21

परिष्कार ही करते हैं। साहित्य की सामाजिकता का अर्थ यह नहीं है कि वह इतना नीरस और उपदेश प्रधान हो जाये कि उसे पाठक ही न मिले। पठनीयता भी उसकी सामाजिकता का ही पक्ष है। मनोरंजनपरक उपन्यासों की पाठकीय स्वीकृति को अश्लीलता से जोड़ना या कल्पना का तिलिस्म कह देना नितांत एक पक्षीय दृष्टि है। सामाजिक मर्यादाओं और जीवन व्यवहार का सौन्दर्य इन उपन्यासों में भी उतना ही निखरे रूप में आया है जितना आलोचकों के गंभीर लेखन के सांचे में फिट दिखने वाले उपन्यासों में।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में देवकीनंदन खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यास तिलिस्म-ऐयारी और घटनाप्रधान-जासूसी के रोमांस और रोचकता के किस्सों से आगे अपना सामाजिक महत्त्व भी रखते हैं। ये उपन्यास तत्कालीन जीवनधारा से कटकर नहीं मनोरंजन के द्वारा जीवन के भीतर उतरते हैं। कर्मफल का सौन्दर्य जिस रूप में इन उपन्यासों में आया है वह इनकी सामाजिकता का प्रबल प्रमाण है। यह उपन्यास कर्म का कथात्मक उपदेश न दे कर कर्मफल की क्रियान्विति करते हैं। जब उपदेश के लिए लिखे जाने मात्र से उपदेश का ग्रहण नहीं हो सकता है तब मनोरंजन के लिए लिख देने का यह अर्थ तो नहीं है कि पाठक इससे केवल मनोरंजन ही करे, उसके सिवाय और कुछ भी ग्रहण नहीं करे। हिन्दी के तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास केवल मनोरंजन के लिए नहीं लिखे गये। इनमें मनोरंजन प्रधान है पर उसके साथ शिक्षा और संस्कार का सामाजिक विधान सर्वत्र विद्यमान है। मर्यादित मनोरंजन का न तो किसी सभ्य समाज और न ही शिष्ट साहित्य में अस्वीकार हुआ है और न ऐसा होना समाज और साहित्य के हित में है। मनोरंजन के बिना जीवन भारस्वरूप हो जायेगा और आदर्शों के उपदेश मृत आत्माओं के कानों में दी गयी फूंक बन कर रह जायेंगे। मनोरंजन जीवन का रहस्य नहीं है वह जीवन जीने का रोमांच है। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के इस रोमांच पक्ष पर विचार करते हुए पूर्वाग्रह से मुक्त होकर इनकी मनोरंजन की प्रवृत्ति का साहित्यिक मूल्यांकन होना चाहिए। जब इतिहास बदल सकता है तो धारणाएं क्यों नहीं? एक पक्षीय धारणाओं को

बदलना तो समय की मांग भी है और साहित्य की नफासत भी। अकबर महान था या महाराणा प्रताप, के ऐतिहासिक मुद्दे पर जब इतिहासकार एक राय नहीं है तो आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की मनोरंजन-प्रवृत्ति की साहित्यिकता और सामाजिकता पर नयी बहस क्यों नहीं हो सकती है।

3. उपदेश

(परीक्षा गुरु, नूतन ब्रहमचारी, धूर्त-रसिकलाल, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, श्यामास्वप्न)

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में उपदेश-प्रवृत्ति समाज सुधार का हिस्सा बन कर आई रही। उपनिवेशवादी मानसिकता से टकराने और अंग्रेजी सभ्यता की काट के लिए भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का उपदेशात्मक आख्यान इन उपन्यासों में पिरोया गया। उपदेशात्मकता के भार से ये उपन्यास नीरसता के शिकार हुए। उपदेशों के कारण उपन्यास साहित्य की सरसता दार्शनिक शास्त्रीयता की भेंट चढ़ी, पर नवजागरण के विचारों की जनस्वीकृति तैयार करने में इन उपदेशों का सकारात्मक प्रभाव भी पड़ा। जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए आदर्श की उपदेशात्मक घुट्टी भी आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में खूब पिलाई गयी। उपदेश की प्रवृत्ति उपन्यास के विधान में फिट नहीं बैठती है। इसलिए आगे चलकर वह उपन्यास के कलेवर से बाहर हो गयी।

हिन्दी उपन्यास की उपदेश प्रवृत्ति को सझने के लिए उपन्यास के उद्भव की परिस्थतियों और उपन्यास के विधान के भारतीय पक्ष को भी जानना होगा। उपदेश की प्रवृत्ति भारतीय समाज के जीवन मूल्यों का हिस्सा है। यह सदैव सत्य और न्याय का उपदेश अनेक वृत्तांत और दृष्टान्त के द्वारा दिया जाता रहा है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की उपदेश-प्रवृत्ति इसे उपन्यास की भारतीय अवधारणा के करीब ले जाती है, हिन्दी उपन्यास केवल अंग्रेजी 'नॉवेल'की नकल या रूपांतरण नहीं है उसमें कथा-आख्यायिका की भारतीय आत्मा बसती है। कथा विधान में उपदेश का यह फॉर्मूला भारतीय समाज के बीच उपन्यास को स्थापित करने में अपरोक्ष भूमिका निभा रहा था। पाठक सहज ही नवजागरण के विचारों को सहज ही इस साहित्यिक माध्यम से ग्रहण कर रहे थे। समाज सुधार का महत और गंभीर कार्य इन उपन्यासों के

उपदेशों की गंभीरता से भी निकला है, साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी उपन्यासकार इस प्रवृत्ति का प्रयोग साहित्यिक फॉरमेट में ही कर रहे थे, किसी धर्म या दर्शन के सांचे में नहीं। उपन्यास की नवीन विधा को समाज स्वीकृति दिलाने और समाज को नवजागरण की चेतना के लिए तैयार करने की दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का उपदेशवाद अपना साहित्यिक मूल्य रखता है। कभी कभी इन उपन्यासों का उपदेश इन्हें उपन्यास से उपदेश का आख्यान भर बना डालता है। इससे इनका साहित्यिक पक्ष कमजोर व उपन्यास की सरसता की क्षति हुई है । लाला श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (सन्1882 ई०) की उपदेशात्मकता की आलोचना जो बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में लिखी थी, उसमें इसकी उपदेश शैली को उपन्यास का कमजोर पक्ष सिद्ध किया गया है। गोपालराय ने 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' पुस्तक में राजेन्द्र प्रसाद शर्मा की पुस्तक 'हिन्दी गद्य के निर्माता पंडित बालकृष्ण भट्ट'के हवाले से लिखा है "हम लोग जैसा और बातों में अंग्रेजों की नकल करते आते हैं वैसा ही उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टान्त पर सीखा है। हाल में लाला श्रीनिवासदास जी का परीक्षा गुरु नामक ग्रन्थ जिसे हम उपन्यास ही गिनते हैं और जिसकी समालोचना से हमारे प्रिय शुभचिंतक सा०सु०नि० (सार सुधा निधि) के सुयोग्य सम्पादक महाशय हमसे कुछ अनमने से हो गये हैं, अलबत्ता कुछ कुछ अंग्रेजी नॉवेल के ढंग पर है परन्तु नॉवेल प्रौढ़ बुद्धि वालों के लिए लिखे जाते हैं कि स्कूलों में क, ख सीखने वालों के लिए। ग्रन्थकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रकट करना था तो गुलदस्ते यखलाक या विद्यांकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते यदि ये सब ठौर ठौर के अनुवाद निकाल दिए जाये तो (ओरिजनल पोर्शन) असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रह ही नहीं जायेगा।"[1] यह आलोचना कुछ अधिक विध्वंसात्मक है फिर भी इसमें हिन्दी उपन्यास के भविष्य का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। उपन्यास के कलेवर में उपदेशात्मकता और पश्चिम मॉडल की नक़ल दोनों के सम्बन्ध में इस आलोचना में फिर से

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास , पृष्ठ 53

सोचने की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह आलोचना उपन्यास में उपदेशात्मकता के नकार का आगाज थी जो वर्तमान उपन्यास साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। हिन्दी उपन्यास के भविष्य का विजन बालकृष्ण भट्ट ने अपनी इस आलोचना के माध्यम से सामने रखा। यह हिन्दी उपन्यास की मौलिकता और साहित्य की सरसता दोनों ही दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है। लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' उपन्यास का ध्येय वाक्य भी इस प्रकार रखा है "अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता" । लेखक ने इसे "अपनी भाषा में एक नयी चाल की पुस्तक" कह कर विधागत प्रयोग की ओर संकेत किया है। यद्यपि इस पुस्तक में उपन्यास शब्द का प्रयोग नहीं किया है अंग्रेजी में मुद्रित 'डेडिकेशन' (समर्पण) में उसे "my humble attempt at novel writing" कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास आदि की तरह लाला श्रीनिवासदास ने भी नॉवेल के लिए उपन्यास शब्द को स्वीकार नहीं किया था। यद्यपि बालकृष्ण भट्ट ने उसी वर्ष सन् 1882 ई० में हिन्दी प्रदीप में 'परीक्षा गुरु' की समीक्षा करते हुए उसे उपन्यास कहा था।

लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' में दिल्ली के एक कल्पित रईस साहूकार मदनमोहन के माध्यम से मध्यवर्ग पर उपनिवेशवादी मूल्यों के प्रभाव को दिखाया है। अंग्रेजी सभ्यता की नकल से किस प्रकार इस वर्ग का पतन हो रहा था, इसका उदाहरण लाला मदनमोहन का व्यक्तित्व है। उपन्यासकार ने मदनमोहन के पिता की व्यावसायिक प्रवृत्ति और मदनमोहन की फिजूलखर्ची के बीच अंतर दिखा व्यावसायिक वर्ग पर पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभाव का भी संकेत किया है। अंग्रेज व्यवसायी ब्राईट के माध्यम से अंग्रेज व्यवसायियों के दांव पेच और भारतीय मध्यवर्ग की दलाली की प्रवृत्ति पर उपन्यासकार ने खुलकर लिखा है। उपन्यासकार का मुनीमगिरी का अनुभव उपन्यास को इस मुद्दे पर अधिक प्रामाणिक रचना बनाता है। लाला श्रीनिवासदास ने भारतीय पूंजीपति वर्ग के पतन का बड़ा कारण अंग्रेजी सभ्यता की बेढंगी नक़ल बताया है। उपन्यास में ब्रजकिशोर के माध्यम से उपन्यासकार ने आर्थिक विकास के

लिए मानवी चरित्र और सजगता को देशोत्थान के लिए महत्त्पूर्ण मानते हुए लिखा है वे उपन्यास के पात्र ब्रजकिशोर से कहलाते हैं- "देश की उन्नति अवनति का आधार वहाँ के निवासियों की प्रकृति पर है. सब देशों में सावधान और असावधान मनुष्य रहते हैं परन्तु जिस देश के बहुत मनुष्य सावधान और उद्योगी होते हैं उस्की उन्नति होती जाती है, हिंदुस्थान में इस समय और देशों की अपेक्षा सच्चे सावधान कम है और जो है वे द्रव्य की असंगति से अथवा नयी नयी युक्तियों के अनुभव करने की कठिनाइयों से निरर्थक से हो रहे हैं और उन्की सावधानता बन के फूलों की तरह कुछ उपयोग किये बिना ब्रिथा नष्ट हो जाती है परन्तु हिन्दुस्थान में इस समय कोई सावधान न हो यह बात हरगिज नहीं है"[1]

उपन्यासकार ने लाला मदनमोहन के पिता के चरित्र पर बात करते समय भारतीय वाणिज्य की कल्याणकारी मानसिकता और पाश्चात्य उपभोगतावादी सोच का अंतर भी पाठक के सामने रखा है। लाला मदनमोहन के पिता भारतीय व्यावसायिक मानसिकता का उदहारण बनते हैं जिनका विश्वास फिजूलखर्ची न करना, धन को अपनी पाप वासना का साधन न समझना, सीधा सादा होना परन्तु व्यापार में निपुण होना, ईश्वर की भक्ति करना और प्रतिदिन घंटे-डेढ़ घंटे कथा सुनना और बेवजह हाकिमों के चक्कर न काटना जैसे भारतीय मूल्यों में था। दूसरी तरफ लाला मदनमोहन पाश्चात्य मूल्यों की नकल में अपनी अकल का दिवाला निकाल बैठते हैं। परीक्षा गुरु उपन्यास एक तरह से ब्रिटिश उपनिवेशवाद द्वारा भारत के आर्थिक शोषण की कहानी भी बयाँ करता है। श्रीनिवासदास ने उपन्यास की शुरुआत लॉर्ड चेस्टरफिल्ड की इस पंक्ति से की है –"चतुर मनुष्य को जितने खर्च में अच्छी प्रतिष्ठा अथवा धन मिल सकता है मूर्ख को उससे अधिक खर्चने पर भी कुछ नहीं मिलता।"[2] ऐसी पक्तियां उपन्यास में बहुतायत भरी पड़ी है जो उपन्यास के उपदेश प्रधान होने का संकेत हैं। उपन्यासकार कभी नीति के उपदेश का

[1] लाला श्री निवासदास, परीक्षा गुरु, पृष्ठ40

[2] वही, प्रथम पृष्ठ

सहारा लेता है तो कभी साहित्यिक आदर्श की कल्पना के सहारे उपदेश की घुट्टी पाठक को पिलाता है। आदर्श और उपदेश के यह वाक्य विद्वता से आतंकित तो करते है पर पाठक के कथारस में सहायक नहीं बन पाते हैं। मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भुदयाल के बीच के सवांद का एक उदाहरण देखिये – "सुख दुःख बहुधा आदमी की मानसिक वृत्तियों और शरीर की शक्ति के आधीन है एक बात से एक मनुष्य को अत्यंत दुःख और क्लेश होता है वही बात दूसरे को खेल तमाशे की सी लगती है इसलिए सुख दुःख होने का कोई नियम नहीं मालूम होता।" मुंशी चुन्नीलाल नें कहा। "मेरे जान तो मनुष्य जिस बात को मन से चाहता है उस्का पूरा होना ही सुख का कारण है और उस्मै हर्ज पड़ने ही से दुःख होता है। मास्टर शिम्भुदयाल ने कहा।"[1]

उपन्यास का पात्र ब्रजकिशोर एक तरह से उपन्यासकार के व्यक्तित्व के करीब नजर आता है। उसमें लाला श्रीनिवासदास स्वयं अपना चरित्र साकार करते हैं। यही कारण है कि ब्रजकिशोर के व्यक्तित्व में उन्होंने विद्वता का उच्च आदर्श स्थापित करने में कोई कसर नहीं रखी है। बहस में अकाट्य तर्क उसकी विद्वता का बार बार लोहा मनवाते जान पड़ते हैं इससे कथा गंभीरता का शिकार हो जाती है।

'परीक्षा गुरु' उपन्यास का आदर्शवाद जीवन के अनुभवों से न निकल कर बौद्धिक वर्ग की विद्वता की धाक से निकला आदर्शवाद है। उपन्यास में लाला ब्रजकिशोर का चरित्र जिस आदर्शवाद को प्रस्तुत करता है वह इसी का प्रमाण है जहाँ वह अपनी बात के लिए कभी नीति के साहित्यिक दृष्टान्त से तो कभी इतिहास के उदाहरणों से पाठक को चौंकाता है। एक तरह से 'परीक्षा गुरु' का आदर्शवाद जीवन सरिता का सहज अंग न होकर लेखक का अपना ज्ञान प्रदर्शन का प्रयास अधिक है। इस अप्रासंगिक प्रयोग का विरोध तब 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक बालकृष्ण ने किया था। उपन्यास का प्रतिनिधि पात्र लाला ब्रजकिशोर जिन उदाहरणों से अपनी बात कहता है उसमें समस्या का समाधान नहीं अपितु बौद्धिक आतंक अधिक प्रखर रूप ले लेता है। वह कभी

[1] लाला श्री निवासदास, परीक्षा गुरु, पृष्ठ 51-52

साहित्य के सहारे तो कभी धर्म की ज्ञान गंगा के सहारे पाठक पर प्रभाव डालता है। लाला ब्रजकिशोर उपन्यास में हर जगह कुछ ऐसे ही उपदेशक बन कर सामने आते हैं।

'परीक्षा गुरु' उपन्यास में स्त्री समानता या स्त्री अधिकारों की बात नहीं हुई है। इसका आदर्शवाद एक तरह से स्त्रियों को उसके स्वतंत्र व्यक्तित्त्व के रूप में न देख कर पुरुष द्वारा दिया गया मायावी आदर्श का जाल है। जिसमें फंसी स्त्री कदम कदम पर अपना मूल्यांकन पुरुष की ख़ुशी या प्रसन्नता के साथ जोड़ कर करती है। स्त्री जीवन का उद्देश्य और सार्थकता केवल पुरुष के प्रति समर्पण और उत्सर्ग माना गया है। मदनमोहन की स्त्री के सम्बन्ध में बात करते हुए लाला ब्रजकिशोर के माध्यम से उपन्यासकार ने स्त्री के इसी एक पक्षीय त्याग का उदाहरण दिया है जिसमें पति चाहे कैसा भी हो स्त्री के लिए वह पति परमेश्वर ही है। लाला ब्रज किशोर के माध्यम से उपन्यासकार नारमण्डी के अमीरजादे रोबर्ट की स्त्री समबिल्ला का प्रसंग सामने रखते हैं, स्त्री के इसी एक पक्षीय त्याग के उदाहरण स्वरूप मदनमोहन की स्त्री को दिखाया गया है, जो भारतीय स्त्री का पुरुष की दृष्टि से देखा गया आदर्शवाद है -"हाय! यह पापी प्राण अब भी क्यों नहीं निकलते इससे अधिक और क्या दुःख होगा"[1]

बच्चन सिंह प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ की औपन्यासिक गंगा का गोमुख 'परीक्षा गुरु' को मानाते है –" इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें नवजागरण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। अपनी भाषा की उन्नति के साथ इसमें नए ढंग की खेती और कल-कारखाने की उन्नति पर बल दिया गया है। अंग्रेजों की नकल को निषिद्ध ठहराया गया है। देशी भाषा में शिक्षा देने पर जोर दिया गया है। अखबारों की कद्र न करने की निंदा की गई है। पुरानी पीढ़ी की कर्मठता को अनुकरणीय बताया गया है। इस तरह उस युग

[1] लाला श्री निवासदास, परीक्षा गुरु, पृष्ठ 192

को समग्रता में समेटने का जो प्रयास लालाजी ने किया है, वह प्रशंसनीय है। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ की गंगा की गोमुखी यही है।"[1]

उपदेशात्मक उपन्यासों की कड़ी में बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (सन्1886 ई०) चरित्र प्रधान उपन्यास है। भट्ट जी 'नूतन ब्रह्मचारी' के द्वारा बालकों को सद्चरित्र की शिक्षा देना चाहते हैं। उपन्यास की कथा दो घटनाओं के आधार पर आगे बढ़ती है। दोनों के बीच पन्द्रह वर्ष का अंतर रखा गया है। उपन्यास के नायक विनायक राव का चरित्र बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से आदर्श रूप में पाठकों के सामने आता है। बिट्ठल राव और राधा बाई अपने पुत्र विनायक को अतिथि सत्कार का संस्कार देते हैं। एक दिन ब्राह्मण दम्पति अपने पुत्र को घर छोड़ कर जमींदार के बुलावे पर जाते हैं। रास्ते में वे दोनों विनायक के यज्ञोपवीत की तैयारी की बात करते हैं, जिसे डाकू सुन लेते हैं और पीछे से बिट्ठल राव के घर लूट के इरादे से आते हैं। संस्कारी बालक डाकुओं को अतिथि समझ उनकी सेवा करता है तथा घर की सारी कोठरियां खोल सारा माल उन्हें दिखाता है। डाकू सरदार विनायक राव की निश्छलता, सच्चाई और स्वभाव देख बड़ा खुश होता है और अंत में उससे यह कह कर चला जाता है कि बिट्ठल राव आवें तो कह देना कि तीन डाकू आये थे बिना लूटे चले गये।

दूसरी घटना इस घटना के पन्द्रह वर्ष बाद की है। अब विनायक राव जमींदार का विश्वासपात्र कर्मचारी है। जमींदार उसके स्वभाव से उस पर बड़े प्रसन्न होते हैं। एक बार वह जमींदार के साथ बाहर परदेश दौरे पर जाता है। रात होने पर दलबल सहित डेरा कहीं बस्ती के पास डालने के बाद विनायक राव पानी लेने नदी के पास जाता है, वहाँ तलवारों के ध्वनि सुनता है। जाकर देखता है कि एक आदमी घायल अवस्था में कराह रहा है। विनायक देखते ही पहचान लेता है कि यह तो वही डाकू है जिसका उसने पन्द्रह वर्ष पहले अतिथि के रूप में घर पर सत्कार किया था। वह डाकू सरदार विनायक को सारी घटना बता देता है कि आज रात तुम्हारे डेरे पर लूट के लिए डाकू

[1] बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ 301-302

हमला करेंगे अत: सावधान रहना। मैंने साथियों को रोकने की कोशिश की परन्तु वे नहीं माने इसी कारण उनसे लड़ते हुए मैं घायल हो गया। विनायक ने सारी बात जमींदार को बता दी इसके परिणाम स्वरूप जमींदार के आदमी अस्त्र-शस्त्र से तैयार रहे। जब रात को डाकुओं का हमला हुआ तो उन्हें भगा दिया गया। कुछ डाकू मारे भी जाते है, सुबह होने पर विनायक देखता है कि मारे गये डाकुओं में से दो वे ही थे जो पन्द्रह वर्ष पूर्व डाकू सरदार के साथ उसके घर आये थे।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास में भट्ट जी ने विनायक राव के रूप में आदर्श चरित्र के माध्यम से भारतीय संस्कृति की अतिथि सत्कार और बुरे से बुरे मनुष्य के हृदय परिवर्तन का आदर्श पाठक के सामने रखा है। डाकू सरदार लूट के इरादे से आकर भी बालक के सहज सत्कार से इतना प्रभावित होता है कि लूट का इरादा बदलता ही है। वह पन्द्रह वर्ष बाद लूट के विरोध में अपने साथियों से लड़ कर अपनी जान न्योछावर भी कर देता है। भट्ट जी इस उपन्यास के माध्यम से बाल मनोविज्ञान के सहारे बालकों को सद्चरित्र और निश्छल बने रहने की सीख देते हैं।

भट्ट जी ने यह उपन्यास शिक्षा के पाठ्यक्रम में शामिल करने के लिए ही लिखा था यद्यपि इसमें उन्हें असफलता मिली जिससे वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने अपना क्रोध प्रकट करते हुए लिखा था – "ऐसी ऐसी रद्दी पुस्तकें भरी पड़ी है कि जिनसे हमारे बालकों के सिवाय हाथ से बाहर हो जाने के और कुछ भी भलाई नहीं दिखाई पड़ती। शिक्षा विभाग में जिस तरह की पाठ्य पुस्तकें प्रचलित है उन्हें थोड़ा ही पढ़ने से मालूम हो जायेगा कि बालकों को पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है । - - - पर अपनी कंगलटिर्रई का दम भरते मथुरा तीन लोक से न्यारी के समान सुलेखकों के अभिमान में चूर आज तक किसी प्रकार की चाटुकारी न बन पड़ी कि प्रभुवरों की झूठी लल्लो-पत्तो में अपना जीवन नष्ट करते, तब क्यों शिक्षा विभाग के अधिकारी उचित न्याय

पर दृष्टि रख उन पुस्तकों को हटा इस प्रकार की बालाकोपयोगी पुस्तकों को शिक्षा विभाग में आदर देते।"[1]

'नूतन ब्रहमचारी' उपन्यास की भूमिका में भट्ट जी ने तत्कालीन समाज के हिन्दी पाठक समुदाय की साहित्यिक नीरसता पर भी अपनी राय दी है। इससे देवकीनंदन खत्री के उपन्यास लेखन की विषयवस्तु को समझा जा सकता है। खत्री जी ने तिलिस्मी और ऐयारी शैली को अपने उपन्यासों के लिए क्यों चुना इसका उत्तर चंद्रकांता(1888 ई०) के प्रकाशन से दो वर्ष पूर्व भट्ट जी के इस निवेदन में मिल जाता है –"रहे साधारण जन नागरी अक्षरों से परिचय मात्र जिनकी विद्वता की इयत्ता है, समाचार पत्रों में इधर-उधर की ख़बरें पढ़ लेना ही जिनके ज्ञान का भण्डार है उनसे हम क्या आशा कर सकते हैं सिवाय सब ओर से नैराश्य के।"[2] 'नूतन ब्रहमचारी' आकार में छोटा उपन्यास है परन्तु इसका मनोविज्ञान बहुत मजबूत है। 'परीक्षा गुरु' का आदर्श चरित्र लाला ब्रजकिशोर पाठकों पर जहाँ विद्वता की धाक छोड़ कर भी उपन्यास को रससिक्त नहीं बना पाता है। जीवन के मार्मिक पक्ष को नीति कथनों के भार तले दबा दिया जाता है जो उपन्यास में कभी ऊपर नहीं आ पाया। दूसरी तरफ 'नूतन ब्रह्मचारी' में बालक विनायक और डाकू सरदार का चरित्र अपनी सहजता में मानवीय ही बने रहते हैं। पाठक जितना विनायक के चरित्र को अपने करीब पाता है उतना लाला ब्रजकिशोर के चरित्र को नहीं। हृदय परिवर्तन की घटना को भट्ट जी ने डाकू सरदार के चरित्र के माध्यम जिस रूप में उपन्यास में रखा है वह पाठक को कभी अविश्वसनीय नहीं लगती है। उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता ही घटना की विश्वसनीयता है। इस दृष्टि से 'नूतनब्रहमचारी' अधिक प्रौढ़ रचना है।

'सौ अजान एक सुजान' बालकृष्ण भट्ट का पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित प्रमुख उपन्यास है। इसका भी प्रकाशन पहले 'हिन्दी प्रदीप' में धारावाहिक रूप में हुआ था। पुस्तकाकार रूप में इसका प्रकाशन हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होने के

[1] बालकृष्ण भट्ट, नूतन ब्रहमचारी, निवेदन
[2] वही

दस वर्ष बाद 1906 ई० में हुआ था। हिन्दी प्रदीप में धारावाहिक रूप में यह सन् 1896 ई० में पूरा हुआ था। 'सौ अजान एक सुजान' उपन्यास की शुरुआत इस सोरठे से होती है -

खोटे को संग, हे मन तज्यौ अंगार ज्यों।
तातो जारे हाथ, सीतल हू कारो करे।।[1]

इस उपन्यास का कथानक एक सेठ परिवार से सम्बंधित है। सेठ हीराचंद के पुत्र की मृत्यु युवावस्था में हो जाती है। सेठ के दो पौत्र ऋद्धिनाथ और सिद्धिनाथ हैं। पुत्र की मृत्यु के बाद पौत्रों का पालन-पोषण सेठ हीराचंद करते हैं। सेठ जी के घनिष्ठ और विद्वान् मित्र पंडित मिश्र जी हैं। मिश्र जी गाँव में ही अध्यापन कार्य करते हैं। उन्हीं का एक शिष्य चंद्रशेखर बड़ा प्रतिभाशाली, सच्चरित्र और विद्वान् है। सेठ हीराचंद इस युवक को पौत्रों का अध्यापक नियुक्त कर देते हैं। जब बालक थे तब तक तो ये दोनों पढ़ते थे। परन्तु सेठ की मृत्यु के बाद ये दोनों कुसंगति का शिकार हो गए। नंददास, बुद्धदास, बसंता आदि दुष्ट लोग इन दोनों युवकों को फंसा कर पथ भ्रष्ट कर देते हैं। चंद्रशेखर का कोई उपदेश अब उन पर काम नहीं करता है। दोनों भाई भोगविलास में लिप्त होकर सुरापान और द्यूत क्रीड़ा में लग जाते हैं। नित्य नयी वेश्याओं के साथ विलासी जीवन जीने लगते हैं। माता रमा देवी पुत्रों के कुपथगामी होने पर बड़ी दुखी रहती है। अंत में अपने मित्र पंचानन की सहायता से चंद्रशेखर इनका चरित्र सुधारने में सफल होता है। शीर्षक के अनुकूल ही उपन्यास के कथावस्तु का विस्तार हुआ है। उपन्यासकार का उद्देश्य असत्य पर सत्य की विजय दिखा कर कुप्रथाओं को प्रस्तुत करते हुए सुधार करना है। इस उपन्यास में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है। बालविवाह, विधवा विवाह निषेध, वेश्यावृत्ति के कुपरिणाम, कुसंगत का फल, धनी वर्ग के पथ भ्रष्ट युवाओं का वर्णन, पुलिस विभाग में फैले भ्रष्टाचार और सामाजिक विषमता जैसी समस्याओं का वर्णन उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से किया

[1] बालकृष्ण भट्ट, सौ अजान एक सुजान, आरम्भ

है। भट्ट जी का यह समस्यामूलक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास है। जहाँ सौ अजान एकत्र हो जाते हैं वहां एक सुजान की कुछ नहीं चलती। नक्कारखानें में तूती की कौन सुनता। चंद्रशेखर एक सुजान है जो सौ अजानों के बीच ऋद्धिनाथ और सिद्धिनाथ को सुधारने का प्रयास करता है।

भट्ट जी ने 'परीक्षा गुरु' की 'हिन्दी प्रदीप' पत्र में जो आलोचना लिखी उसमें नीति के उदाहरणों और साहित्यिक उक्तियों की भरमार को उपन्यास का कमजोर पक्ष बताया था। उपन्यास के मौलिक पक्ष पर भी सवाल खड़ा किया था। परन्तु 'सौ अजान एक सुजान' में स्वयं भट्ट जी उपदेशक बन कर नीति के श्लोकों और कहावतों का प्रयोग करते हैं। भट्ट जी भी संस्कृत के श्लोकों के साथ साथ रहीम, बिहारी आदि के दोहों को भी बीच बीच में उद्धृत करते हैं। 'सौ अजान एक सुजान' में कहीं कहीं भट्ट जी उपन्यास लेखक से समाज सुधारक की भूमिका में उतर गए हैं। स्थान-स्थान पर वे पाठकों को संबोधित करते हुए लम्बे-लम्बे उपदेशात्मक व्याख्यान देने लगते हैं जिससे कथावस्तु का प्रवाह शिथिल और नीरस होने लगता है। पात्रों से बात न कहलाकर वे स्वयं ही जब पाठक से संवाद करने लगते हैं तो उपन्यास की कथा शैली की तारतम्यता टूट जाती है और उपन्यास नीति शास्त्र के ग्रन्थ जैसा नीरस लगने लगता है। जिस स्थूल उपदेशात्मकता का शिकार 'परीक्षा गुरु' उपन्यास हुआ भट्ट जी भी अपने 'सौ अजान एक सुजान' को इस दोष से नहीं बचा पाये। यद्यपि यह हिन्दी उपन्यास का उद्भव काल था जिसमें उपन्यास का सैद्धांतिक पक्ष विकसित नहीं हुआ था। उपदेश के माध्यम से उपन्यासकार साहित्य की सामाजिक उपयोगिता का निर्वहन करने की कोशिश कर रहे थे, परन्तु यह भी सच है कि उपदेश का विधान उपन्यास की प्रकृति के प्रतिकूल ठहरा है। उपन्यास के विधान में उपदेशक की भूमिका प्रभावशून्य हो जाती है इस बात को आलोचक रूप में सबसे पहले बालकृष्ण भट्ट ही केंद्र में लाये।

'सौ अजान एक सुजान' में जीवन की व्यावहारिक समस्या को चित्रित किया गया है। साथ ही पाठक का चरित्र सुधार करने के लिए सत्य का पथ बताया गया है। जिस सांस्कृतिक संकट के मुद्दे को मेहता लज्जाराम शर्मा अपने

उपन्यासों में उठाते हैं, उसका आरम्भ भट्ट जी के 'सौ अजान एक सुजान' से हो जाता है, जिसकी प्रशंसा स्वयं लज्जा राम शर्मा ने की –" भट्ट जी ने 'सौ अजान एक सुजान' उपन्यास को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करवाया है। मैं इसी ढंग के उपन्यास लिखने-लिखाने का पक्षपाती हूँ जिनमें अन्य भाषा की पोथियों की चोरी न की गयी हो, जिनमें असलियत हो, जिनके पढ़ने से पाठकों के चित्त में और चरित्र पर अच्छा असर पड़े। मुझे तिलिस्म और ऐयारी से भरे किस्से - - - जासूसी कहानियां - - - स्त्रियों के प्रेम की भीतरी बातें दिखलाकर कुरुचि संचार करने वाले उपन्यास पसंद नहीं है। इसकी वर्णन शैली बढ़िया है, शिक्षाप्रद है। यदि हिन्दी के सभी उपन्यास लेखक इस प्रकार के किस्से लिखने की ओर ढल पड़े तो हिन्दी साहित्य का बहुत उपकार हो सकता है और पाठकों के चरित्र शोधन में सहायता मिल सकती है।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में उपदेश की प्रवृत्ति लिए मेहता लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' (1899 ई०) और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899 ई०) उपन्यास भी समाज सुधार का उद्देश्य लिए पाठक और पाठिकाओं में सांस्कृतिक चेतना का परिष्कार कर रहे थे। मेहता लज्जाराम शर्मा ने सुधार को सामाजिक सुधार के साथ सांस्कृतिक सुधार का भी रूप दिया। 'धूर्त रसिकलाल' में लज्जाराम जी ने पाप और पुण्य को कर्म से जोड़ कलयुग को कर युग के रूप में बड़ा रोचक रूप दिया है। 'धूर्त रसिकलाल' का सुधार का मॉडल पूरी तरह भारतीय है जिससे पाठक बिना किसी नीति वाक्यों के भार को महसूस किये उपन्यास का रसास्वादन करते हैं। उपन्यासकार अपनी बौद्धिक प्रतिभा से पाठकों को चौंकाने की कोशिश नहीं करता है। वह अपनी बात को सहज रूप में ही कहता है - "जो रसिकलाल एक दिन अपने सुख के गर्व में फूला फूला फिरता था वही अब काली पानी में कठिन परिश्रम से जीवन बिताता है। पापों के कारण उसके शरीर में कुष्ट हो

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 137

गया। वह अपने कुकर्मों के लिए पछताता है और मृत्यु शीघ्र आने की बाट देखता है। जैसा करता है वैसा ही पाता है। यह कलियुग नहीं करयुग है।[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की स्त्री सम्बन्धी जो उपदेशात्मक प्रवृत्ति रही है वही 'धूर्त-रसिकलाल' में है। स्त्रियों के मुद्दे पर उपन्यासकार भारतीय संस्कृति के आदर्श को सामने रख कर पाठकों में अतीत गौरव का भाव जगाने की कोशिश करता है - "आजकल की स्त्रियों को साध्वी सत्यवती की पति भक्ति से शिक्षा लेनी चाहिए।भारत वर्ष की स्त्रियों के लिए पति ही सर्वस्व है। प्राणांत कष्ट भोगने पर भी पति को दूषित समझना स्त्री के लिए महापातक है। शुद्ध पतिव्रत धर्म ही आर्य महिलाओं का भूषण है।"[2]

'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' उपन्यास को लेखक ने 'एक स्त्री शिक्षा विधायक बोधजनक सामाजिक उपन्यास' कहा है। यह उपन्यास सुधारवाद के विजन के साथ ही पाठक के सामने आता है। उपन्यासकार सांस्कृतिक संकट से भारतीय समाज को बचाने की कोशिश करता है। वह बिना किसी लाग लपेट के अपनी बात कहता है। साथ ही पाठक पर अपनी बात थोपने की कोशिश भी नहीं करता है। इस उपन्यास में न तो लाला श्रीनिवासदास की तरह उपदेशों की भरमार है और न ही बालकृष्ण भट्ट की तरह पाठक से सीधा संवाद कर कथा के प्रवाह को बाधित करने का दोष। उपन्यास का समापन पाठक को सोचने का अवसर देता है। इस उपन्यास का समापन इस प्रकार हुआ है – "यह पुस्तक किसी समाज वा किसी व्यक्ति पर आक्षेप करने की दृष्टि से नहीं लिखी गयी है। दोनों नायिकाओं के चरित्र दोनों ओर की पराकाष्ठा है। अच्छे और बुरेपन का संबंध किसी समाज से नहीं है। सुख और दुःख दिखलाने के लिए गुणावगुण की अवधि का चित्र खिंचा गया है। तात्पर्य यही है कि

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, धूर्त रसिकलाल, पृष्ठ 89

[2] वही, पृष्ठ 91

स्वतंत्रता ग्रहण कर कोई स्त्री अधिक से अधिक रमा के समान बुरी और परतंत्र रहने पर भी अधिक से अधिक लक्ष्मी के समान अच्छी हो सकती है।"[1]

ठाकुर जगमोहन सिंह का उपन्यास 'श्यामास्वप्न' रीतिकालीन शृंगारिकता लिए एक प्रेम कथा है। उपन्यास गद्य काव्य जैसा है। गद्य में प्रकृति चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास विशेष महत्त्व रखता है। स्वप्निल प्रेम कथा के बीच उपदेश विधान की शैली को लेखक ने अपनाया है। समाज सुधार की प्रकृति वाले उपन्यासों में उपदेश का आदर्श फिट बैठ सकता है परन्तु इस उपन्यास में उपदेश का यह आदर्श उपन्यास का कमजोर पक्ष बनता है यद्यपि ऐसे अवसर उपन्यास में कम आये हैं फिर भी विषय वस्तु की दृष्टि से खटकने लगते हैं 'श्यामा स्वप्न' में दर्शनशास्त्र की शैली उपदेश देने का प्रयास किया गया है – "जो पहले सरागी नहीं हुआ वह विरागी कैसे होगा - - - संसार तुच्छ है, असार है इसमें संदेह नहीं –मैं कहता हूँ यह मेरा पुत्र है वह मेरी पुत्री है तो भला यह कहो तुम कौन हो? तुम कहाँ से आये –कहाँ रहे –कहाँ हो और फिर कहाँ चल बसोगे? कुछ जानते हो कि बिना कान टटोले कौवे के पीछे दौड़ चले?- - - कर्म से मुक्ति नहीं होती है-यज्ञ, जप, तप, वेद, पाठ, पूजा, फूल, चन्दन, चावर, पाषाण, मूर्ति, देवालय, तीर्थ इन सबों से मुक्ति नहीं - "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:" यही सर्वोपरि समझो –किसका ईश्वर और किसका फीश्वर।"[2]

'श्यामा स्वप्न' में प्रेम का जो आदर्श रखा गया है उसमें पुरुष मानसिकता का रीतिकालीन प्रेम भी झलकता है यद्यपि उपन्यासकार स्वप्न के सहारे सात्त्विक प्रेम को ही उच्च मानता है परन्तु उपन्यास का समापन त्रासदी (ट्रेजेडी) की तरह होता है। स्त्री समानता या स्त्री की भावना का महत्त्व न मान कर एक तरह से सब संकटों का मूल फिर से स्त्री बन जाती है। नीति उपदेश के सहारे स्त्री को दुखों का कारण बताते हुए स्त्री विरोधी उपदेश इसमें भी मिलते हैं। ऐसा लगता है कि ज्ञान प्राप्ति का प्रमाण यही उपदेश है जिसमें कभी भर्तृहरि

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी, समापन

[2] ठाकुर जगमोहन सिंह, श्यामा स्वप्न,पृष्ठ 103

के सहारे तो कभी किसी अन्य के सहारे स्त्री निंदा का उपदेश ही पाठक को दिया जाता है।

स्त्री अधिकारों की दृष्टि से आरम्भिक उपन्यासोंकारों का स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण लगभग एक सा रहा है। नीति उपदेशों का सहारा अधिकतर स्त्री की भावना के विपरीत ही रखा गया। 'श्यामा स्वप्न' भी इसी मानसिकता को अभिव्यक्त करता है-

विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्ड्।
स्वर्गद्वारस्य स्त्रीरत्नं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाश:।।

भर्तृहरि पृष्ठ129

यह स्वप्न विचारि लीजिये कितने दुःख की खानी ।
नारी अहे जगत पुरुषं कों कहिये कथा बखानी ।।

स्वयं लेखक पृष्ठ 129

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की उपदेश की प्रवृत्ति पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार सामाजिक सुधारक की भूमिका में भी इस विधा का प्रयोग कर रहे थे। यद्यपि उपदेश की प्रवृत्ति से उपन्यास का साहित्यिक पक्ष कमजोर हुआ परन्तु पाठकों की चेतना में इसका सकारात्मक प्रभाव भी रहा। भारतीय संस्कृति के गौरवमय अतीत से पाठक को जोड़ने में उपन्यास की उपदेशक प्रवृत्ति का प्रयोग अधिक सफल भी रहा। एक तरह से पाश्चात्य सांस्कृतिक संकट से भारतीय पुनर्जागरण को अलगाने और उसमें भारतीयता को बचाने का काम आरम्भिक उपन्यासों की इस प्रवृत्ति में देखा जा सकता है।

4. इतिहास और फंतासी

(चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति)

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का प्रयास तो नहीं किया परन्तु मनोरंजन की प्रवृत्ति के लिए इतिहास की फंतासी गढ़ ली। 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' जैसे उपन्यासों में देवकीनंदन खत्री ने फंतासी शैली में ऐतिहासिक पात्रों की कल्पना के सहारे प्रेम कथा का सृजन किया है। फंतासी एक ऐसी कल्पना है जो अपनी गूढ़ता में यथार्थ के बिना भी यथार्थ से भिन्न नहीं जान पड़े। तथ्यात्मक आधार न होते हुए भी पाठक का मन इसे वास्तविक मान कर चलता है। ऐतिहासिक फंतासी का अर्थ इस रूप में समझा जा सकता है कि इसमें पाठक के लिए इतिहास का सत्य या ऐतहासिक घटना महत्त्वपूर्ण न होकर इतिहास की कल्पना ही महत्त्वपूर्ण बन जाती है। इसमें पात्र या घटना की ऐतिहासिकता पर विश्वास न करने का विचार नहीं रहता है। कोई अंतर भी नहीं पड़ता है कि इसका कोई इतिहास है भी या नहीं। पाठक गूढ़ कल्पना की फंतासी में ऐसा खोया रहता है कि रचनाकार के साथ भावधारा में बहकर मायावी जादू से वशीभूत हो जाता है।

फंतासी की प्रवृत्ति के उपन्यासों में इतिहास के सहारे कल्पना नहीं, कल्पना के सहारे इतिहास का सृजन जाता है। देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में इसी फंतासी के सहारे उपन्यास के पात्रों को ऐतिहासिक पात्र बनाया है। इतिहास की दृष्टि से ये पात्र प्रामाणिक नहीं हैं, फिर भी पाठक के लिए ऐतिहासिक बन जाते हैं। फंतासी काल्पनिक होते हुए भी अपना आधार इस प्रकार लेती है कि ऐतिहासिक न हो कर भी इतिहास विरुद्ध नहीं जान पड़ती है – "बीरेन्द्रसिंह और तेजसिंह नौगढ़ के किले से बाहर निकल बहुत से आदमियों को साथ लिए चंद्रप्रभा नदी के किनारे बैठे शोभा देख रहे हैं। एक तरफ से चंद्रप्रभा दूसरी तरफ से करमनासा नदी बहती हुई आई हैं और किले

के नीचे दोनों का संगम हो गया है। जहाँ कुमार और तेजसिंह बैठे हैं, नदी बहुत चौड़ी है और उस पर साखू का बड़ा भारी जंगल है।"[1]

'चन्द्रकान्ता संतति' में भी इतिहास और फंतासी के सहारे पाठक के मन में कौतूहल जगाने का प्रयास किया गया है। इतिहास को भूगोल के सहारे प्रमाणिकता देने की कोशिश की गयी है ताकि पाठक सहज ही विश्वास करने लगे और कथा के प्रवाह में बाधा न आये। देवकीनंदन खत्री ने भूगोल के तथ्यों और सत्यों से इतिहास की फंतासी गढ़ डाली- "चुनार से थोड़ा ही दूर दक्खिन लम्बा चौड़ा घना जंगल है। यह विन्ध्य के पहाड़ी जंगल का सिलसला रोबर्ट्सगंज सरगुजा और सिंगरौली होता हुआ सैंकड़ों कोस तक चला गया है, जिसमें बड़े बड़े पहाड़ घाटियाँ दर्रे और खोह पड़ते हैं। बीच में दो चार कोस के फासले पर गाँव भी आबाद है। कहीं कहीं पहाड़ों पर पुराने जमाने के टूटे फूटे आलीशान किले अभी तक दिखाई पड़ते हैं। चुनार से आठ दस कोस दक्षिण अहरोरा के पास पहाड़ पर पुराने जमाने के एक बर्बाद किले का निशान आज भी देखने से चित्त का भाव बदल जाता है।"[2]

फंतासी में कल्पना यथार्थ का बहिष्कार नहीं उसका आविष्कार करती है। इसमें इतिहास को कल्पना के सहारे गढ़ लिया जाता है। यद्यपि इतिहास का सत्य या तथ्य पाठक के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता है।वह तो रचनाकार के उद्देश्य का सहायक भर होता है। फंतासी में पाठक के पास कथाविधान में इतना अवसर ही नहीं होता कि वह कथा प्रवाह से अलग इतिहास की वास्तविकता पर विचार करे। फंतासी कल्पना तो है परन्तु कल्पना की उड़ान नहीं। वह ऐसी कल्पना है जिसमें पाठक द्वारा अविश्वसनीय को विश्वसनीय मानने में बाधा नहीं आती है। फंतासी में घटनाओं का गठन इस प्रकार होता है कि असम्भव कुछ नहीं रहता है। जिन आधारों पर कथाविधान गूंथा जाता है वे यथार्थ जगत के बन जाते हैं चाहे उनका अस्तित्त्व ज्ञात नहीं हो। पाठक के मन में यही भाव रहता है कि ऐसा भी हो सकता है।

---

[1] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता,पृष्ठ 34

[2] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता सन्तति - भाग एक, पृष्ठ 09

इतिहास का फंतासीमय प्रयोग करते समय उपन्यासकार को एक बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है कि पात्र या घटना इतिहास प्रसिद्ध नहीं होनी चाहिए, अगर ऐसा होगा तो पाठक का सहज ज्ञान उसके भावानुशीलन में बाधा बन जायेगा। पाठक का मन घटना को तर्क की कसौटी पर परखने लगेगा तब कथाप्रवाह में रुकावट आ जाएगी। उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता संतति'में इतिहास की ऐसी फंतासी गढ़ी है कि पाठक पात्रों या घटनाओं के बारे में जानकारी न रखते हुए भी उसके मन में संशय या सवाल नहीं है - "भैरोंसिंह को साथ लेकर देवीसिंह बराबर के पहाड़ पर गए जो गयाजी से तीन चार कोस की दूरी पर होगा। घुमघुमौवा और पेचीली पगडंडियों को तै करते हुए पहर रात जाते जाते ये दोनों उस खोह के पास पहुंचे जिसमें वे बदमाश डाकू लोग रहते थे। उस खोह के पास ही एक छोटी सी गुफा थी जिसमें मुश्किल से दो आदमी बैठ सकते थे। इस गुफा में एक बारीक दरार ऐसी पड़ी हुयी थी जिसमें से ये ऐयार उस लम्बी चौड़ी गुफा का हाल बखूबी देख सकते थे, जिसमें वे डाकू लोग रहते थे ।"[1]

इस प्रकार आरंभिक हिन्दी उपन्यासों में प्रवृत्ति की दृष्टि से इतिहास और फंतासी की शैली भी अपना महत्त्व रखती है। आगे चलकर यही प्रवृत्ति हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का आधार बनी। इतिहास की घटनाओं का कथा साहित्य में सृजनात्मक प्रयोग जो आगे चलकर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में देखने को मिला उसकी धारा का उत्स इतिहास और फंतासी की इसी प्रवृत्ति से माना जा सकता है। एक प्रकार से यह प्रवाह इतिहास के फंतासीमय मनोरंजक रूप से उसके यथार्थ की भावभूमि पर उतरकर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होने का विकास है। इसी आधार पर हिन्दी उपन्यास मनोरंजन से आगे निकल समस्याओं से टकराने का साहित्यिक रूप लिए पाठक के सामने आया, जिसे हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में व्यापक स्वीकृति मिली।

[1] देवकीनंदन खत्री, चंद्रकांता संतति, भाग दो, पृष्ठ 48

5. यथार्थ

(नि:सहाय हिन्दू, सौ अजान एक सुजान, घराऊ घटना)

साहित्य में यथार्थवाद की प्रवृत्ति और उससे जुड़ी समस्या पर विचार करते हुए अज्ञेय ने 'यथार्थ और भाषा का क्रम' निबन्ध में लिखा है - "वास्तव में उपन्यास की –समूचे साहित्य की समस्या केवल यथार्थ को प्रस्तुत करने की समस्या नहीं है बल्कि यथार्थ को रचने की समस्या है, यथार्थ को रचने की और फिर उस रचे हुए यथार्थ के सम्प्रेषण की। यथार्थवाद का आग्रह जो अपनी सही जगह पर सही हो सकता था, बल्कि साहित्यकार की सनातन समस्या का एक निरूपण है, यथार्थवाद का नारा बन कर एक झूठा आग्रह बन गया और समस्या को अतिसरलीकृत और इसलिए विकृत रूप प्रस्तुत करने का कारण बन गया। यथार्थ की समस्या किसी बाहर के यथार्थ को शीशे में उतार लेने की समस्या नहीं है, वह यथार्थ को रचने की और रचे हुए यथार्थ को जीवन संप्रेष्य रूप देने की समस्या है। कथा साहित्य के विकास को उसी दृष्टि से देख कर हम उसे ठीक ठीक समझ सकते हैं। पुरानी दृष्टान्त कथाओं में जब कथाकार सारी कथा किसी नीति-वाक्य या उपदेश की नींव पर गढ़ता था तब उसके लिए कहानी यथार्थ नहीं होती थी। यथार्थ होता था वह धर्म-दण्ड जिसके आसपास सारा संसार घूमता था।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का यथार्थवाद पुरानी कथा परम्परा से भिन्न सृजनात्मक रूप लिए है। इनमें यथार्थ को अतिसरलीकृत करने की कोशिश नहीं बल्कि यथार्थ को साहित्य के दायरे में ही संप्रेष्य करने का प्रयास हुआ है। अज्ञेय ने कथा साहित्य को यथार्थ के साथ जिस रूप में देखा-समझा है उसकी जड़ें वे धर्म विधान में देख रहे थे परन्तु आरम्भिक हिन्दी उपन्यास यथार्थ को जीवनधारा के सहज प्रवाह से साहित्यधारा की सहज विश्वसनीयता के साथ

[1]कृष्णदत्त पालीवाल (संपा०), अज्ञेय प्रतिनिधि निबंध, पृष्ठ 108

अभिव्यक्त कर रहे थे। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का यथार्थवाद केवल घटित का ही यथार्थ नहीं अपितु घटित होने की संभावनाओं का भी यथार्थ है।

राधाकृष्ण दास का उपन्यास 'नि:सहाय हिन्दू' यथार्थ चित्रण की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में यह पहला उपन्यास है जिसमें हिन्दू- मुस्लिम सम्बन्धों को आधार बना कर तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। कथ्य की दृष्टि से इसमें अद्‌भुत नवीनता है।इसका केन्द्रीय विषय गोवध-निवारण है पर इसके ब्याज से कथाकार ने साम्प्रदायिक सद्भाव का ऐसा मार्मिक चित्रण किया है जो उस समय के साहित्य में एक प्रकार से दुर्लभ ही था। उपन्यासकार ने अप्रत्यक्ष रूप से 1857 ई० के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का संकेत भी किया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ने का सबसे आसान तरीका धार्मिक भावनाओं का एक दूसरे के खिलाफ प्रयोग कर आपसी दरार पैदा करना था।

राधाकृष्ण दास ने हिन्दू –मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या का जो रचनात्मक समाधान प्रस्तुत किया है वह यथार्थ और वास्तविक है। यह किसी समस्या आदर्शवादी समाधान नहीं यथार्थवादी जीवनदृष्टि बनता है। गोपाल राय ने उपन्यासकार के 'विजन' को इस प्रकार देखा है –"उपन्यास की एक आश्चर्यजनक नवीनता यह है कि इसमें एक मुसलमान पात्र, मौलवी अब्दुल अजीज, गोवध रोकने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में अपनी जान तक देता है। गोरक्षा के उद्देश्य से एक 'गोहितकारिणी सभा' की स्थापना होती है जिसका सभापति अब्दुल अजीज चुना जाता है। वह खुली सभा में घोषणा करता है कि कुरानशरीफ में गो-कुशी वर्जित है।"[1] उपन्यासकार ने एक मुसलमान पात्र के मुंह से गोकुशी का तार्किक खण्डन करवाकर सांप्रदायिक सद्भाव की नींव को मजबूत करने का व्यावहारिक सन्देश दिया है "बाबू मदनमोहन साहब ने जो कुछ कहा है मैं बदिलताईद करता हूँ। गोकि मैं मुसलमानहूँ लेकिन मैं मुसलमानों की इस बात से निहायत नाराज हूँ। क्या

[1] गोपालराय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 45

बाइस है कि हिन्दू लोग बेबात सताए जावें? मुझे बड़ा ताज्जुब है कि बावजूदे कि मुसलमानों के मजहब में भी गायकुशी मना है, फिर क्यों ऐसा किया जाता है? देखिये कुरान शरीफ में लिखा हुआ है –'जाबह उल बकर कान उश शज़र बाअ उल बशर शारब उल खमर' यानी बैल मारनेवाले, वृक्ष काटनेवाले, मनुष्य बेचनेवाले और मदिरापान करनेवाले की नजात कभी न होगी। फिर क्या कोई नया कुरान बनाया गया है? आप लोग ख्याल फरामवेंगे तो साफ़ बदमाशों की शरारत है।"[1]

'नि:सहाय हिन्दू' में राधाकृष्ण दास ने गोवध-निवारण की समस्या के साथ साथ समकालीन राष्ट्रीय भावना और नवजागरण की चेतना को उपन्यास में अभिव्यक्ति दी है। यद्यपि उपन्यासकार ने स्पष्ट: ब्रिटिश शासन की आलोचना नहीं की है, इस शासन में देश की दुर्दशा, अंग्रेज सरकार के पिट्ठुओं की करतूतों, अंग्रेजों से डरे हिन्दुस्तानियों की हास्यास्पद हरकतों, टैक्स में निरन्तर होती वृद्धि, उसकी वसूली में की जाने वाली धांधली, पुलिस महकमें में फैले भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता जैसे समकालीन मुद्दों का यथार्थवादी चित्रण किया है।

'नि:सहाय हिन्दू' में काशी के तत्कालीन वातावरण और समाज का अंकन जिस तरीके से किया गया है वह यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण है। गोपाल राय उपन्यास की इस विशेषता को ऐसे बयाँ करते हैं –"उसमें ऐसे साहूकारों का चित्रण है जो 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय' और 'धेले का हिसाब मिले चाहे रूपये का तेल जल जाय' का उदाहरण पेश करते हैं। कथा के पात्रों में ऐसे वृद्धजन हैं, जो अंग्रेजी शिक्षा, पढ़े लिखे युवकों द्वारा छुआछूत न मानने, समाज सुधार के लिए स्थापित सभाओं में शामिल होने आदि को लेकर झींकते रहते हैं। ऐसी सासे जो पढ़ी-लिखी और सलीके से रहने वाली बहुओं का जीना हराम कर देती हैं। इससे पुरानी और नयी पीढ़ी के संघर्ष की भी झलक

[1] राधाकृष्ण दास, नि:सहाय हिन्दू, पृष्ठ 62

मिलती है जो प्रत्येक युग की सच्चाई है। कथाकार ने काशी की गलियों और घाटों के वर्णन में भी यथार्थपरक दृष्टि का परिचय दिया है।"[1]

राधाकृष्ण दास ने 'नि:सहाय हिन्दू' में हिन्दू समाज के साथ ही मुस्लिम समाज का भी यथार्थ चित्रण किया है। समकालीन मुस्लिम समाज में दो वर्ग थे जो आज भी है। एक वर्ग धार्मिक दृष्टि से उदार और सहिष्णु जिसका प्रतिनिधित्व मौलवी अब्दुल अजीज करते हैं तो दूसरा वर्ग कट्टरपंथी मानसिकता लिए है जिसका प्रतिनिधित्व हाजी अताउल्ला करते हैं। राधाकृष्ण दास ने साम्प्रदायिक सद्भाव में पुरुषों के साथ स्त्रियों की भूमिका को महत्त्व देकर सामाजिक वातावरण में स्त्री की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया जो तत्कालीन समाज और साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। उपन्यास के नायक मदनमोहन और अब्दुल अजीज की पत्नियों की मित्रता और सद्भाव हिन्दू-मुस्लिम एकता का अद्‌भुत उदाहरण कहा जा सकता है। 'नि:सहाय हिन्दू' में समसामयिक घटनाओं को उपन्यास की कथावस्तु बनाया गया है जो आगे चलकर प्रेमचंद के उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता बन कर सामने आती है। 'नि:सहाय हिन्दू' की इस विशेषता को पहचानते हुए ज्ञानचंद जैन लिखते हैं – "नि:सहाय हिन्दू' हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें लेखक ने प्रेमचंद के उपन्यासों की याद दिलाते हुए एक ऐसी समसामयिक घटना को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है जिसने उस काल के हिन्दू समाज को आंदोलित कर रखा था। 1880ई० के दशक में गोकुशी की पहली घटना हैदराबाद के निजाम की रियासत में घटी थी। इस पर कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले उस काल के सबसे तेजस्वी हिन्दी साप्ताहिक 'सारसुधानिधि' ने हिन्दुओं की प्रतिक्रिया को दर्शाने-वाला एक सम्पादकीय भावावेशपूर्ण शैली में लिखा था।"[2]

'नि:सहाय हिन्दू' का समापन नाटकीय ढंग से होता है जो इसका कमजोर पक्ष है। ऐसा लगता है राधाकृष्ण दास ने नाटक को ही उपन्यास का रूप देने का

[1] गोपालराय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 45
[2] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद-पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 84

प्रयास किया है। लेखक में अनुभव और परिपक्वता की कमी होना इसका बड़ा कारण है। यथार्थ के बीच काल्पनिक आदर्श के प्रसंग उपन्यास के प्रभाव को कमजोर कर देते हैं। पाठक जिस तरह जीवन के यथार्थ से टकराता हुआ उपन्यास का पठन करता है बीच में अयथार्थ और अविश्वसनीय आदर्श के आ जाने से उसका मनोवेग विपरीत रूप से प्रभावित होता है। उपन्यास में अब्दुलअजीज के खिलाफ स्वधर्मी मुसलमानों का षड्यंत्र जिसके तहत अस्त्र-शस्त्र अब्दुलअजीज के नौकरों की मार्फ़त पहले ही उसके घर पर पहुँचाना तथा नौकरों द्वारा अब्दुलअजीज को षड्यंत्र की जानकारी देने के बाद की घटनाएँ आदर्श की झोंक में अविश्वसनीय बन गयी हैं। अब्दुलअजीज और मदनमोहन द्वारा षड्यंत्रकारियों को हथियार सौंपना और एक एक के साथ लड़ने का विचार बुद्धिमता का परिचय नहीं है। यहाँ उपन्यास यथार्थ से दूर हो जाता है और उपन्यास से अधिक नाटक बन जाता है। षड्यंत्रकारियों से लड़ने का अब्दुलअजीज का तरीका उपन्यास को वैचारिकता की यथार्थ भूमि से काट कर एक मिथकीय दुनिया की घटना जैसा बना देता है – "कुछ परवा नहीं। हम ऐसी लड़ाई नहीं लड़ते। हम तुम लोगों को हथियार दे देंगे, बशर्ते कायदे से लड़ों। यानी एक साथ ही हम लड़ाई न करेंगे, एक के बाद एक लड़े।"[1] - - - - अब्दुलअजीज ने अपने दरबान को हुक्म दिया-"एक -एक को एक-एक हथियार तब देना, जब वह गिर पड़े और दूसरा लड़ने को तैयार हो। क्योंकि सबको एक साथ हथियार दे दोगे, तो ये एक साथ हमला कर देंगे।"[2]

यथार्थ वर्णन की दृष्टि से भुवनेश्वर मिश्र का 'घराऊ घटना' उपन्यास आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में विशेष स्थान रखता है। भुवनेश्वर मिश्र ने घर-परिवार की घटनाओं को आधार बना कर एक मनोरंजक कथा का सृजन किया है। उपन्यास में कोई सामाजिक मुद्दा नहीं उठाया गया है फिर भी आंचलिकता की दृष्टि से इसकी वर्णन शैली पाठकों को प्रभावित करती है। इसमें स्त्री-स्वभाव और वस्त्राभूषण-प्रेम का यथार्थ वर्णन है। 'घराऊ घटना'

[1] राधाकृष्ण दास, नि:सहाय हिन्दू,पृष्ठ 77

[2] वही

बिना किसी लाग लपेट की कही गई कथा है, पत्नी को खुश करने व रूठने पर मनाने के व्यवहारिक तरीकों का मार्मिक चित्रण इसमें हुआ है। 'घराऊ घटना' उपन्यास की खास बात यह है की उपन्यासकार ने कथा का संयोजन इस प्रकार किया है कि एक घर की घटना घर-घर की घटना बन कर पाठक को बांध लेती है। विशेष से सामान्य हो जाने का साधारणीकरण का रस सिद्धांत उपन्यास की अद्‌भुत विशेषता है। 1893ई० में लिखा गया यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास के यथार्थवादी विजन (vision) का प्रतिनिधित्व करता है। कलात्मक चमत्कार की जगह कथात्मक मार्मिकता लिए यह उपन्यास समाज के भीतर की सच्चाई को बड़ी ईमानदारी से पाठक के सामने लाता है। इस उपन्यास में संस्कारों के बीच में शृंगार अपनी सीमाओं में अधिक सुन्दर लगता है। 'घराऊ घटना' उपन्यास घर-परिवार की घटनाओं का एक मनोवैज्ञानिक दस्तावेज है। यह उपन्यास कल्पना के स्थान पर भोक्ता का सच बन कर पाठक के लिए लोक-जीवन का सच प्रस्तुत करता है। पर-घटित को स्व-घटित और परानुभूत को स्वानुभूत बना कर रस संचार करा देने वाला यह उपन्यास पाठक दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। गोपाल राय ने इस उपन्यास की विशेषता बताते हुए लिखा है- "घराऊ घटना अपने समय की एक विशिष्ट कृति है। यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें मध्यवर्ग के एक सामान्य गृहस्थ के दैनंदिन जीवन का उसके सूक्ष्म ब्योरों के साथ,विश्वसनीय और रोचक चित्रण किया गया है। यह पहला हिन्दी उपन्यास है जिसमें आँचलिकता का इतना गाढ़ा रंग है। तत्कालीन समाज के रीतिरिवाजों और विचारों-मान्यताओं का जैसा विश्वासोत्पादक वर्णन इस उपन्यास में उपलब्ध है वह पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासों में दुर्लभ है। इस दृष्टि से यह हिन्दी का पहला रीतिरिवाजों का उपन्यास (नॉवेल ऑफ़ मैनर्स) कहा जा सकता है।"[1]

गोपाल राय ने 'घराऊ घटना' उपन्यास की यथार्थ प्रवृत्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है "पात्रों के नाम भी झगड़ू लाल, खखन लाल,भिखारी राय, कुनकुन

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 108

राय, भज्जू कुरमी आदि –तत्कालीन ग्रामीण समाज की झलक प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से 'घराऊ घटना' आंचलिक जीवन का चित्रण करने वाला पहला यथार्थवादी उपन्यास कहा जा सकता है।"[1]

बालकृष्ण भट्ट का उपन्यास 'सौ अजान एक सुजान' यद्यपि समाजसुधार का सन्देश लिए एक आदर्श उपदेशात्मक रचना है परन्तु इसकी यथार्थवादी दृष्टि भी तत्कालीन समाज का चित्रण करने में सफल रही है। उपन्यासकार ने जिन समस्याओं पर अपने विचार रखे हैं वह तत्कालीन समाज का यथार्थ है। उसी के अनुरूप भट्ट जी ने पात्रों के चरित्र और संवाद रखे हैं। डॉ०रामविलास शर्मा ने 'सौ अजान एक सुजान' के वैशिष्ट्य को इस प्रकार रेखांकित किया है – "यथार्थ चित्रण की ओर इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गई है। नौकर, दासी, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में, पढ़े-लिखे बाबू की भाषा में अंग्रेजी का भी पुट रहता है, 'मैं आप लोगों के प्रपोजल को सेकिण्ड करता हूँ' इत्यादि।"[2]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य में किसी एक धारा को ले कर नहीं चलते हैं। हिन्दी उपन्यास का यह उद्भवकाल एक साथ परम्परा और नवीनता को साध रहा था। जिसके कारण प्रवृत्तियां भी एक दूसरे से उतनी भिन्न रूप में नहीं थी। किसी एक उपन्यास में भी कई प्रवृत्तियां अपना वैशिष्ट्य लिए पाठक का मनोरंजन भी कर रही थी और सुधार का सन्देश भी दे रही थी। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार अपने उपन्यासों में उपदेश, मनोरंजन, समाजसुधार, इतिहास और फंतासी, यथार्थ आदि प्रवृत्तियों के साथ एक तरफ हिन्दी उपन्यास साहित्य के लिए पाठक जुटाने का काम कर रहे थे तो दूसरी तरफ साहित्य के द्वारा नवजागरण की चेतना भी समाज में फैला रहे थे। ये उपन्यास अपनी प्रवृत्तियों में भारतीय समाज में सांस्कृतिक जागरण का भी नेतृत्व कर रहे थे।

---

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 108

[2] डॉ.रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृष्ठ 126-27

आरम्भिक उपन्यासकार सजग होकर भारतीय समाज के कमजोर पक्ष का चित्रण कर उसकी कमियों को दूर करने का सन्देश दे रहे थे। वे अंग्रेजी सभ्यता से भारतीय सभ्यता और संस्कृति की टकराहट का नेतृत्व भी कर रहे थे। एक तरह से आरम्भिक हिन्दी उपन्यास साहित्य के माध्यम से समाज बदलने का काम कर रहे थे और उसके अस्तित्त्व की स्वतंत्र पहचान की रक्षा का कार्य भी। कभी उपदेश द्वारा उपन्यासकार पाठक को नीति का पथ दिखा रहे तो कभी मनोरंजन द्वारा चित्त की विकृतियों का परिमार्जन कर रहे थे। सुधार कभी अपने आदर्श रूप में हृदय की उद्दातता को लिए चल रहा तो कभी समस्याओं से सीधे टकराकर यथार्थवाद के सहारे समाज को उसके वास्तविक स्वरूप से अवगत करा रहा था।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार अपनी सामाजिक और साहित्यिक दोनों भूमिकाओं में संतुलन बना कर चल रहे थे। इन उपन्यासों की प्रवृत्तियों को उसी रूप में देखा जाना चाहिए। हिन्दी उपन्यास का सैद्धांतिक पक्ष इन प्रवृत्तियों से ही विकसित हुआ है अत: इनको सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत समझा जा सकता है। प्रवृत्तियों के सैद्धांतिक पक्षों के आधार पर इन उपन्यासों की साहित्यिकता का मूल्यांकन अध्ययन की दृष्टि से तो उपयुक्त हो सकता है पर सिर्फ इन प्रवृत्तियों को ही निष्कर्ष का आधार बना लेना शायद हिन्दी उपन्यासकारों के शुरुआती प्रयासों के साथ न्याय नहीं होगा। अत: इन प्रवृत्तियों को आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के उद्भव की साहित्यिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

पाँचवां अध्याय

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान

1- कथात्मक अन्विति

2- कलात्मक पुनर्निर्मिति

3- चमत्कारिकता

4- भाषिक संरचना

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान

1.कथात्मक अन्विति

उपन्यास को पश्चिमी साहित्य में पुनर्जागरण की साहित्यिक संतान कहा जाता है। इसी प्रकार हिन्दी उपन्यास भी पुनर्जागरण की विचारधारा से विकसित नवजागरण की साहित्यिक उपज माना जाता है। हिन्दी उपन्यास का वर्तमान मॉडल भले ही पश्चिम से प्रभावित हो परन्तु इसमें भारतीय कथा-आख्यायिका की परम्परा जिस रूप में समाहित है वह उपन्यास की भारतीयता की मौलिक पहचान है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में उपन्यास के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसी की कथा कहता है। यदि ऊपर की पंक्तियों का निष्कर्ष निकालकर उपन्यास की व्याख्या करें और कहें कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है तो यह अधिक असंगत न होगा।"[1] डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उपन्यास में कथात्मक अन्विति की भूमिका को उपन्यास की पहचान मान कर कथा को कल्पना लोक से वास्तविक धरातल पर उतार दिया। इसे चाहे उपन्यास की भारतीय पहचान कह लो या उपन्यास की सार्वभौमिक पहचान।

पश्चिमी साहित्य में अगर उपन्यास के उद्भव के सम्बन्ध में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय कथा-आख्यायिका की शैली से भिन्न उसका रूप नहीं था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के शिल्प विधान के सम्बन्ध में

[1] श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृष्ठ 99

कथात्मक अन्विति की भूमिका इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि इसमें उपन्यास की भारतीयता पश्चिम के मॉडल में भी सुरक्षित रही है। कथात्मक अन्विति इस बात का भी प्रमाण है कि उपन्यास का विधान भले ही नवीन हो परन्तु भारतीय जन-समाज के लिए उतना भी नया नहीं था कि वह उसके संघटन को समझ न सके।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की स्वीकृति उसके पश्चिमी मॉडल से अधिक कथा-आख्यायिका के भारतीय रूप के नवीन प्रयोग के साथ थी। उपन्यास के स्वरूप में कथा सबसे महत्त्वपूर्ण है। उपन्यास ने गद्य-कथा के रूप में ही स्वीकृति पाई है। उपन्यास की नवीनता और कथा-विधान के सम्बन्ध पर विचार करते हुए गोपालराय ने लिखा है –"इस प्रकार यदि हम उपन्यास को उसकी अल्पतम माँग के साथ परिभाषित करने का प्रयास करें तो कह सकते हैं कि उपन्यास पर्याप्त आकार की वह मौलिक गद्य कथा है जो पाठक को एक काल्पनिक, पर यथार्थ संसार में ले जाती है, जो लेखक द्वारा व्यक्तिगत रूप से अनुभूत और सर्जित होने के कारण नवीन होता है।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने उपन्यास के शिल्प में भारतीय कथा शैली का प्रयोग किया है। उपन्यासकारों ने जब भी पाठक को सन्देश देना चाहा कथा-आख्यायिका का तरीका ही अपनाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिसे अंग्रेजी ढंग का पहला हिन्दी उपन्यास कहते हैं लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' है । 'परीक्षा गुरु' का शिल्प अंग्रेजी ढंग का है। लेखक ने भी अपने उपन्यास को 'नई चाल की पुस्तक' कहा है। फिर भी कथा कहने की भारतीय शैली भी इस उपन्यास में स्पष्ट देखी जा सकती है। 'परीक्षा गुरु' का आरम्भ नई चाल से किया गया लेकिन समापन पुरानी चाल में ही हुआ है- "जो सच्चा सुख,सुख मिलने की मृगतृष्णा से मदनमोहन को अब तक स्वप्न में भी नहीं

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 24

मिला था वही सच्चा सुख ब्रजकिशोर की बुद्धिमानी से परीक्षा गुरु के कारण प्रामाणिक भाव से रहनें में मदनमोहन को मिल गया!!!"[1]

उपन्यास की परिभाषा में गोपालराय कल्पित कथा में यथार्थ के आग्रह वाली जो बात कहते हैं वही बहुत पहले मेहता लज्जाराम शर्मा अपने उपन्यास 'धूर्त-रसिकलाल' (1899 ई०) की भूमिका में कह चुके हैं – " मैं निश्चय करता हूँ कि इस ग्रन्थ को पढ़ने से लोक-परलोक, विहित-अविहित, योग्य-अयोग्य, सर्व प्रकार के व्यवहारों का ज्ञान हो जायेगा और चाहे यह अनहुई और कल्पित और अनुत्पन्न पुरुषों के मुख के उपदेश हैं परन्तु पढ़नेहारे को ऐसे प्रतीत होंगे कि जैसे प्रत्यक्ष खड़े होते और सामने बैठे शिक्षा करते हैं।"[2]

'भाग्यवती' उपन्यास में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने कथावाचक के रूप का भरपूर प्रयोग किया है। फिल्लौरी जी कथावाचक थे और उपन्यास में भी उन्होंने उपदेशक की तरह कथा को पाठक के सामने रखा है। उपन्यासकार अपने विचार पाठक के सामने रखते हुए कथा विधान को श्रुत परम्परा से जोड़ देता है। विचार प्रधान गद्य विधा कि कथा शैली का वे में भाव प्रधान प्रयोग करने लगते हैं। कथा की यह शैली विशुद्ध भारतीय है जो हिन्दी उपन्यास में बखूबी आजमाई गयी। 'भाग्यवती' उपन्यास में महिला स्वावलंबन के पक्ष में फिल्लौरी जी ऐसे ही दृष्टान्तों का प्रयोग करते हैं -

विद्या बन्धु विदेश में, विद्या विपत सहाय।
जो नारी विद्यावती, सो कैसे दुःख पाय ।।

राज भाग सुख रूप धन, विपत समय तज जांह।
इक विद्या विपता समय, ताजे न नर की बाँह।। **(पृष्ठ 52)**

[1] लाला श्रीनिवासदास, परीक्षा गुरु, समापन
[2] मेहता लज्जाराम शर्मा, धूर्त-रसिकलाल, भूमिका

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते, पूज्या यान्ति अपूज्यताम् ।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दारिद्रयं मरणं भयम् ।। **(पृष्ठ 60)**

ठाकुर जगमोहन सिंह के उपन्यास 'श्यामास्वप्न' में काल्पनिक स्वप्न की कथा को जिस तरह से अभिव्यक्त किया गया है, उसमें उपन्यास के विचार प्रधान गद्य से अधिक कथारस की शैली अपनाई गयी है। उपन्यासकार कथा की रसधारा में बहता हुआ स्वप्न की घटना का वर्णन करता है। वह पाठक को भी एक तरह से कल्पनालोक की सैर करवाता सा जान पड़ता है - "आज भोर यदि तमचोर के रोर से जो निकट की खोह में जोर से सोर किया, नींद न खुल जाती तो न जाने क्या क्या वस्तु देखने में आती। इतने ही में किसी महात्मा ने ऐसी प्रभाती गाई कि फिर वह आकाश सम्पति हाथ न आई! वाह रे ईश्वर! तेरे सरीखा जंजालिया कोई जालिया भी न निकलेगा। तेरे रूप और गुण दोनों वर्णन के बाहर है! आज के तमाशे दिखाए यह (सोचना) तो व्यर्थ था क्योंकि प्रतिदिन इस संसार में तू तमाशा दिखलाता ही है। कोई निराशा में सीर पीट रहा है कोई जीवाशा में भूला है। कोई मिथ्याशा ही कर रहा है। कोई किसी के नैन के चैन का प्यासा है, और जल विहीन दीन मीन के सदृश तलफ रहा है- बस। इन सब बातों का क्या प्रयोजन! जो कहना है आरम्भ करता हूँ-आज का स्वप्न ऐसा विचित्र है कि यदि उसका चित्र लिख लिया जाये तो भी भला लगे।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में कथा तत्त्व भारतीय कथा-आख्यायिका से इस तरह प्रभावित है कि उपन्यासकार बीच बीच में पात्रों को भूल कर स्वयं ही उपदेश देने लगता है। यह उपदेशक रूप यद्यपि उपन्यास के कथा संघटन को कमजोर करता है फिर भी इसका महत्त्व इस दृष्टि से है कि उपन्यास जैसी

[1] ठाकुर जगमोहन सिंह, श्यामास्वप्न, पृष्ठ 9

नवीन विधा समाज में सहज ही स्वीकार कर ली जाती है। पाठक उपन्यास को पढ़ते हुए श्रोता की तरह कथा रस का आनंद लेता है।

प्रेमचंद ने उपन्यास को भारतीय जमीन पर लगा पश्चिमी पौधा कहा था। साथ ही वे आश्वस्त थे कि भारतीय जीवन की जातीय परम्परा से जुड़ कर उपन्यास स्वयं अपना भारतीयकरण कर लेगा। हुआ भी ऐसा ही हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों से ही इसके संकेत मिलने लगे। हिन्दी जन-मानस ने जिस तरह उपन्यास को अपनाया उसके पीछे हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों के कथा विधान की बड़ी भूमिका थी। एक तरह से उपन्यास कथा की श्रुत परम्परा से पठन की विधा का रूप ले रहा था और पाठक सहज में ही इसे अपनी जातीय परम्परा से जोड़ इसके फलने फूलने के लिए खाद-पानी दे रहा था।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की कथात्मक अन्विति उपन्यास की भारतीय जातीय परम्परा और पश्चिमी मूल्यों के साहचर्य का परिणाम थी। कथा की भारतीय जातीय परम्परा में व्यक्ति -चरित्र लौकिक न होकर लोक बाह्य हो जाता है जिससे उसकी विश्वसनीयता यथार्थ की भूमि पर नहीं उतर पाती है। यहाँ कथा का कल्पना-लोक यथार्थ की जमीन पर नहीं उतर पाता है। श्रोता अपने आस-पास की घटनाओं से कथा का तारतम्य नहीं बैठा पाते हैं। जब पश्चिमी व्यक्ति-चरित्र का लौकिक चित्रण उपन्यास के रूप में भारतीय कथा-आख्यायिका से साहचर्य करता है तो एक नयी सृजनात्मक विधा का विकास होता है जिसमें कथा तत्त्व भारतीय रहता है और व्यक्ति –चरित्र पश्चिमी तर्ज पर अभिव्यक्त होता है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास इसी सृजनात्मक साहचर्य के उदहारण प्रस्तुत करते हैं।

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यास 'धूर्त-रसिकलाल' (1899 ई०) में सांस्कृतिक मूल्यों को व्यक्ति-चरित्र की पश्चिमी संस्कृति के साथ भारतीय सामाजिक चरित्र की सृजनात्मक टकराहट के रूप में अभिव्यक्त किया है।

कथा की सामाजिकता और चरित्र की लौकिकता की दृष्टि से उपन्यासकार ने रसिकलाल का चरित्र चित्रण किया है - "जो रसिकलाल एक दिन अपने सुख के गर्व में फूला फूला फिरता था वही अब काली पानी में कठिन परिश्रम से जीवन बिताता है। पापों के कारण उसके शरीर में कुष्ठ हो गया। वह अपने कुकर्मों के लिए पछताता है और मृत्यु शीघ्र आने की बाट देखता है। जैसा करता है वैसा ही पाता है। यह कलियुग नहीं करयुग है।"[1]

आरम्भिक उपन्यासों की कथात्मक अन्विति के शिल्प पर विचार करने से यह तथ्य सामने आता है कि उपन्यास के रूप में नवीन विधा को पाठक प्रिय बनाने के लिए उसमें भारतीय कथा तत्त्व का प्रयोग किया गया। यह बड़ा सोच समझ कर किया गया रचनात्मक कार्य था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार इस बात को भलीभांति जानते थे कि उपन्यास रूपी विदेशी पौधे को भारतीय जमीन पर लगने और फलने के लिए भारतीय कथा-आख्यायिका रूपी खाद-पानी भी जरूरी है। यह सच है कि पाठक समुदाय में उपन्यास की स्वीकृति विदेशी विधा के रूप में न हो कर भारतीय कथा-आख्यायिका के नये शिल्पगत प्रयोग के रूप में हुई।

लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' को नयी चाल की पुस्तक कह कर जो आग्रह किया है उसमें अपनी स्वतंत्र पहचान की तलाश अधिक है। इसका अर्थ यही है कि इससे मिलती पुरानी चाल की परम्परा साहित्य में चल रही थी। नयी चाल में आग्रह इस पर अधिक है कि कथा परम्परा में लेखक शिल्पगत प्रयोग या कथा कहने की शैली में बदलाव करने का इच्छुक तो जरूर है पर उसकी विषयवस्तु और ग्राह्यता को कथा की पुरानी परम्परा के रूप में ही रखना चाहता है। 'परीक्षा गुरु' से पूर्व 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती' आदि उपन्यासों में भी कथा के स्तर पर नवीन प्रयोग हुए हैं। कथा को अतिमानवीय और अविश्वसनीय से मानवीय चरित्र के

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा, धूर्त-रसिकलाल, पृष्ठ 89

यथार्थ के साथ विश्वसनीय बनाने का सार्थक प्रयोग किया गया। 'परीक्षा गुरु' में कथ्य के शिल्प की चाल बदली गयी जबकि 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'भाग्यवती' जैसे उपन्यासों में कथा को नये 'विजन' के साथ कह कर कथा की चाल बदलने का प्रयास हुआ। जीवन के यथार्थ से टकराने का तरीका 'परीक्षा गुरु' से अधिक प्रभावी 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'भाग्यवती' में अपनाया गया। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' में देवकीनंदन खत्री अपने तिलिस्म और ऐयारी के माया जाल में भी कथात्मक अन्विति में विश्वसनीयता बनाये रखने का प्रयास करते जान पड़ते हैं। उन्होंने उपन्यास में किसी 'सुपरमैन' को न रख कर मानवीय विवेक को अधिक प्राथमिकता दी है। ऐयारों का कौशल और विवेक ही घटनाओं के केंद्र में रहता है। किसी अलौकिक या अतिमानवीय शक्ति के सहारे घटनातंत्र आगे नहीं बढ़ता है। इन उपन्यासों में जो कुछ घटित होता है वह मानवीय शक्ति की सीमा में ही घटित दिखाया गया है। कथात्मक अन्विति का यह शिल्प आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों को अधिक सृजनात्मक और पाठक ग्राह्य बनाता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में भारतीय कथा परम्परा का व्यक्ति –चरित्र के रूप में अवतरण कथात्मक अन्विति के रूप में पुरानी परम्परा का नयी चाल में ढलने जैसा ही था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने उपन्यास की पौध को लगाते समय से ही इस बात का ध्यान रखा। यही कारण है कि उपन्यास आज भी अपने विविध रूपों में विकसित होता हुआ निरन्तर नवीन प्रयोगों को साधता चलता है। पाठक उपन्यास के स्तर पर हुए प्रयोग को सहज ही स्वीकार कर लेते हैं। उपन्यास के इस लोकतान्त्रिक स्वरूप को आधार देने का काम हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकारों ने किया। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में कथा की भारतीय परम्परा के साथ किये गये शिल्पगत प्रयोगों को उपन्यास के भारतीयकरण के रूप में देखा जाना चाहिए।

2.कलात्मक पुनर्निर्मिति

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में उपन्यास के पश्चिमी कला विधान और कथा के भारतीय कौशल का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि उपन्यास एक नए रूप में सामने आता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यास कथा-आख्यायिका की भारतीय परम्परा और अंग्रेजी नॉवेल की आधुनिक तकनीक दोनों का सृजनात्मक मिलन है। कथा-आख्यायिका की भारतीय परम्परा को उपन्यास के अंग्रेजी विधान में ढाल कर नए रूप में कलात्मक पुनर्निर्मिति के सहारे आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का लेखन हुआ।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने उपन्यास के पश्चिमी पौधे को भारतीय जमीन पर लगाया ही नहीं अपितु उसको भारतीय जीवन में रमाया भी। आरम्भिक हिन्दी उपन्यास, उपन्यास का जितना पश्चिमी रूप शिल्प के स्तर पर अपनाते हैं उतना ही कथ्य के स्तर पर भारतीय रूप भी अपनाकर चलते हैं। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने कथ्य चाहे इतिहास का हो या तत्कालीन सामाजिक जीवन के यथार्थ का, उसको कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। कलात्मक अभिव्यक्ति का अर्थ यह नहीं है कि कोई चमत्कार करने का प्रयास किया गया है अपितु बात को प्रभावी ढंग से कहना और विश्वसनीयता को बनाये रखना ही कलात्मक अभिव्यक्ति है। आरम्भिक उपन्यासकारों ने कथ्य को सामाजिक जीवन से उठाकर उसकी पुनर्निर्मिति करके ही पाठक के सामने रखा है। कलात्मक पुनर्निर्मिति के द्वारा उपन्यासकारों ने पाठक का मनोरंजन किया और उसे सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में भागीदार बनने के लिए प्रेरित भी किया।

आरम्भिक उपन्यासकारों ने उपन्यास की भारतीयता की पहचान के साथ अपने उपन्यास लेखन को आगे बढ़ाया। कथा को उपदेश की नीरसता से

मनोरंजन की सरसता में बदलने का सबसे बड़ा उदाहरण देवकीनंदन खत्री के उपन्यास प्रस्तुत करते हैं। वे पंचतंत्र और हितोपदेश आदि के मुकाबले निश्चय ही 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' की कथा को मनोरंजन परक बनाते हैं। मनोरंजन को जीवन विस्तार से जोड़ कर कथा संघटन खत्री जी के उपन्यासों की विशेषता है। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि खत्री जी के तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों की कला की तत्कालीन उपयोगिता भी कम नहीं थी। ऐयारी के उपन्यासों में बुद्धि का खेल महत्वपूर्ण है। ये वैयक्तिक जीवन में धोखे से बचने और खतरों से सावधान रहने का कौशल सिखाते हैं, राष्ट्रीय जीवन में आत्मविश्वास भी पैदा करता है। वे क्रन्तिकारी जो अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने के लिए विभिन्न रासायनिक नुस्खों का प्रयोग कर रहे थे, निश्चय ही खत्री जी के ऐयारों के कौशल का उन पर प्रभाव पड़ा होगा। मध्यकालीन सिद्धों, नाथों और योगियों ने योग-तंत्र तथा रसायन का सहारा लिया था। खत्रीजी के उपन्यासों में इनके साथ वैज्ञानिक आविष्कार भी जुड़े दीखते हैं।

पं० गौरीदत्त के 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में जिस नयी विधा का संकेत लेखक ने उपन्यास की भूमिका में दिया है। यह उपन्यास कलात्मक पुनर्निर्मिति के अभिनव प्रयोग से पाठकों का परिचित कराता है – "स्त्रियों को पढ़ने- पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गयी हैं सब अपने अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं, परन्तु मैंने इस कहानी को नए रंग ढंग से लिखा है। मुझको निश्चय है कि दोनों, स्त्री-पुरुष इसको पढ़कर अति प्रसन्न होंगे और बहुत लाभ उठायेंगे।"[1]

इसी प्रकार का आग्रह श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने उपन्यास 'भाग्यवती' की भूमिका में किया है। उपन्यासकार ने कल्पित कथा की जो कलात्मक पुनर्निमिति की है, उससे सहारे वह पाठकों को यथार्थ की भूमि पर लाना

[1] पं० गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 23

चाहता है – "मैं निश्चय करता हूँ कि इस ग्रन्थ को पढ़ने से लोक-परलोक, विहित-अविहित, योग्य-अयोग्य, सर्व प्रकार के व्यवहारों का ज्ञान हो जायेगा और चाहे यह अनहुई और कल्पित और अनुत्पन्न पुरुषों के मुख के उपदेश हैं परन्तु पढ़नेहारे को ऐसे प्रतीत होंगे कि जैसे प्रत्यक्ष खड़े होते और सामने बैठे शिक्षा करते हैं।"[1]

पं० गौरीदत्त ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' में जिस प्रकार स्त्री शिक्षा के पक्ष में अंग्रेजी समाज को उदहारण के रूप में रखा है वह कलात्मक पुनर्निर्मिति का कौशल है। उपन्यासकार अब पाठक को जीवन के कटु यथार्थ में से ही प्रेरणा के सन्देश देना चाहता है। वह अब पाठक को अप्रिय को भी उसकी अपनी विशिष्ट पहचान के कारण स्वीकार करने और उससे सीखने के लिए तैयार करना चाहता है। उपदेश के कल्पना लोक से कथा के यथार्थ की जमीन पर उतरने की कहानी ही उपन्यास का उद्भव है। हिन्दी के पहले उपन्यास में ही इस विकास के संकेत मिल जाते हैं – मथुरादास "लड़कियों को पढ़ाने लिखाने से कितना बड़ा लाभ है कि जब वह बड़ी होगी और उनके लड़के बाले होंगे तो अपने बालकों को समझ आते ही अच्छी बातें सिखाया करेगी और उनकों पढ़ाया लिखाया करेगी और यह बात भी है कि पढ़ी हुयी स्त्री की संतान भी जीवट वाली और बुद्धिमान होती है देखो अंगरेजों के यहाँ सब पढ़ते हैं इसीलिए सब बुद्धिमान और शूरवीर होते हैं।"[2]

'वामाशिक्षक' उपन्यास में तत्कालीन समाज की आर्थिक समस्याओं की ओर भी इशारा किया गया है। साहित्य भले ही एक 'फैक्ट्री' के उत्पाद के रूप में सामाजिक उत्पाद न हो परन्तु वह समाज का साहित्यिक उत्पाद जरूर है। वह समाज के यथार्थ से अलग कोई नयी वस्तु नहीं है। 'वामाशिक्षक' के लेखकों के मन में अगर मृत्यु के प्रसंग में मनुष्य के स्वार्थ और सुख सुविधाओं

[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती, भूमिका
[2] पं० गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 11

का विचार आता है तो यह तत्कालीन समाज में अंग्रेजों की शोषण की नीति से भारतीयों की आर्थिक दुर्दशा का संकेत है। जिस वस्तु का अभाव महसूस होता है वह वस्तु ही जीवन में महतत्त्वपूर्ण हो जाती है – "संसार में जो उत्पन्न हुआ है वह एक न एक दिन अवश्य मरेगा फिर जो हम वा हमारे कुटुंब वा नातेदारों में से कोई मर जावे तो क्या अचम्भे की बात है और उसका दुःख और शोक क्या-हाँ केवल अपने दुःख का शोक होता है जिससे अपने लाभ और सुख चैन की आस होती है उसी का अधिक शोक होता है - - - हिन्दुओं में चाल है कि बूढ़े के मरने की ख़ुशी और जवान और बालक के मरने का दुःख मनाते हैं इस्का कारण यही है कि बूढ़े से लाभ की आस जाती रहती है और जवान और बालक से आगे सुख मिलने की आस रहती है।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' कथ्य की कलात्मकता में पाश्चात्य ट्रेजडी जैसा लगता है। शृंगारिक भाव का स्वप्न किस प्रकार जीवन-यथार्थ से टकराकर त्रासद अनुभव देता है तथा उसकी प्रतिक्रिया कैसे अधिक कटु हो जाती है इसका वर्णन उपन्यास में किया गया है। उपन्यासकार अंतर्दृष्टि (विजन) के अभाव में कथा को रीतिकालीन शृंगार भाव से बाहर नहीं निकाल पाता है।

नवजागरण की संघर्ष और सामाजिक सुधार की मनोवृत्ति उपन्यास में स्थान नहीं बना पाई। इस उपन्यास का सबसे कमजोर पक्ष यही है कि स्वप्न कभी यथार्थ जैसा लगता भी नहीं है और व्यक्ति चरित्र अपनी वैयक्तिकता से अलग सामाजिक पहचान और स्वीकृति भी नहीं बना पाते हैं। स्वप्न कथा से यथार्थ का उपदेश देने का लेखक का प्रयास पाठक पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता है।

कथ्य की दृष्टि से कमजोर उपन्यास होते हुए भी शिल्प के स्तर श्यामास्वप्न गद्यकाव्य की भावात्मकता में प्रभावी बन जाता है। भावात्मकता की तरंग में

[1] मुंशी ईश्वरी प्रसाद, मुंशी कल्याण राय, वामाशिक्षक, पृष्ठ 90

ही लेखक उपन्यास का समापन काव्य की तर्ज पर करता है – "इसे केवल स्वप्न ही मत समझो, इसको सुन इसके सार को ग्रहण करो। इस सागर को मंथन कर इसका सार अमृत ले लो। स्त्री चरित्रों से बचो। बस इसी शंकराचार्य के कहे को स्मरण रखो- "द्वारं किमेकं नरकस्य नारी"[1] इन पंक्तियों के बाद उपन्यास में पद्य शैली में उपदेश की कविता शुरू हो जाती है और वही नीरसता के उपदेश जो पाठक को उपन्यास की विश्वसनीयता से दूर काव्य लोक में ले जाते हैं। परन्तु इससे उपन्यास का विचारात्मक पक्ष बाधित हुआ है। 'श्यामास्वप्न' की कलात्मक पुनर्निर्मिति उसके औपन्यासिक पक्ष को कमजोर करती है और उपन्यास का ढांचा उपन्यासकार की पकड़ के बाहर हो जाता है। उपन्यास के समापन में गद्य काव्य के रूप में सामने आता है यहाँ स्वप्न का अंत ही नहीं उपन्यास के प्रभाव का भी अंत हो जाता है।

जगमोहन सिंह के 'श्यामास्वप्न' की इस कमी को मेहता लज्जाराम शर्मा अपने उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में दूर करते जान पड़ते हैं। 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' का समापन जिस तरीके से होता है वह वैयक्तिक चरित्र के सामाजिक होने और पाठक के विवेक को उपन्यासकार द्वारा अपने इष्ट के प्रति ढालने की कला का अनूठा उदाहरण बनता है। उपन्यासकार इस बात का ध्यान रखता है कि पाठक के मन में किसी वर्ग विशेष और लिंग विशेष के प्रति कोई मनोग्रंथि और पूर्वाग्रह का निर्माण न होने पाए। वे इस विचार के साथ उपन्यास का समापन करते हैं – "यह पुस्तक किसी समाज वा किसी व्यक्ति पर आक्षेप करने की दृष्टि से नहीं लिखी गयी है। दोनों नायिकाओं के चरित्र दोनों ओर की पराकाष्ठा है। अच्छे और बुरेपन का संबंध किसी समाज से नहीं है। सुख और दुःख दिखलाने के लिए गुणावगुण की अवधि का चित्र खिंचा गया है। तात्पर्य यही है कि स्वतंत्रता ग्रहण कर कोई

[1] ठाकुर जगमोहन सिंह, श्यामास्वप्न, पृष्ठ 129

स्त्री अधिक से अधिक रमा के समान बुरी और परतंत्र रहने पर भी अधिक से अधिक लक्ष्मी के समान अच्छी हो सकती है।"[1]

उपन्यास का कथ्य अपनी कलात्मकता के कारण ही पाठक पर प्रभाव डालता है। उपन्यास के लोकतान्त्रिक विधान में मनुष्य को सुपर पॉवर की तरह नहीं दिखाया जाता है। वह अपनी कमजोरियों और अच्छाइयों के साथ परिस्थितियों से टकराता हुआ मानवी रूप में पाठक को आमर्षित करता है। उपन्यास का आदर्श कल्पना में भी अपनी विश्वसनीयता को कभी नहीं खोता है। अपनी कमियों के बावजूद भी मनुष्य, मनुष्य बना रहता है या यूँ कहें कि अपनी कमियों के कारण ही मनुष्य, मनुष्य है। उपन्यास मनुष्य को उसके सामाजिक रूप में ही दिखाता है जहाँ ईर्ष्या और प्रेम जैसे भाव जीवन का एक सहज हिस्सा है जो एक प्रकार से उसके अस्तित्त्व का प्रमाण है।

लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' उपन्यास में उपदेश की दार्शनिकता को कथ्य की पुनर्निर्मिति के सहारे अभिव्यक्त कर मनुष्य के चरित्र को उसकी शक्ति और सीमाओं के बीच रख कर नवजागरण का सन्देश दिया है – लाला ब्रजकिशोर कहने लगे "जलन की वृत्ति परमेश्वर ने मनुष्य को इसलिए दी है कि वह अपने से ऊँची पदवी के लोगों को देख कर उचित रीति से अपनी उन्नति का उद्योग करे परन्तु जो लोग जलन के मारे औरों का नुक्सान करके उन्हें अपनी बराबर का बनाया चाहते हैं, वह मनुष्य के नाम को धब्बा लगाते हैं।"[2]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने शिल्प में कलात्मक पुनर्निमिति के द्वारा उपन्यास की पाश्चात्य और भारतीय परम्परा दोनों का समन्वय करते हैं। कथा-आख्यायिका को घटना की विश्वसनीयता और शिल्प की नवीनता के साथ पाठक तक पहुँचाने के लिए उपन्यास का सृजनात्मक प्रयोग आरम्भिक

[1] मेहता लज्जाराम शर्मा स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, समापन
[2] लाला श्री निवासदास, परीक्षा गुरु, पृष्ठ 114

हिन्दी उपन्यासकारों का विशिष्ट योगदान कहा जा सकता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार अपने कला विधान में परम्परा से जुड़ाव और नवीन के स्वीकार को कलात्मक पुनर्निर्मिति के माध्यम से साधकर उपन्यास को पाठक प्रिय भी बनाते हैं और परिवर्तन का सेतु भी बनाते हैं। कथ्य के कलात्मक और सृजनात्मक प्रयोग की यह परम्परा आगे चलकर प्रेमचंद के उपन्यासों से जुड़ती है। इस प्रकार आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपनी कलात्मक पुनर्निर्मिति में हिन्दी उपन्यास की आधारशिला का निर्माण करते हैं जिस पर वर्तमान का हमारा उपन्यास साहित्य खड़ा है।

3.चमत्कारप्रियता

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का शिल्प पाठक के मनोरंजन की दृष्टि से कथ्य के चमत्कारिक प्रयोग के कारण भी विशिष्ट कहा जा सकता है। उपदेश की दार्शनिक नीरसता से निकाल पाठक को मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिकता और नवजागरण की संस्कृति का संदेश देने का कलात्मक चमत्कार आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के शिल्प की अनूठी विशेषता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के शिल्प को चमत्कारिक कहने का अभिप्राय जीवन के विविध पक्षों को पाठक के सामने लाने एवं पाठक पर जीवन की अनुभूतियों से सीख लेने से जुड़ा है। कथ्य को जिस रूप में अभिव्यक्ति दी गयी है वह पाठक को सामाजिकता के दायरे में रखते हुए उसके हृदय को गहराई के साथ सामाजिक परिवर्तन से जोड़ने का प्रयास है। शिल्प का यह चमत्कार किसी तंत्र-मन्त्र की मायावी दुनिया का नहीं अपितु यथार्थ की भावभूमि को लिए साहित्य की सामाजिकता का चमत्कार है।

आरम्भिक उपन्यासों में तिलिस्मी- ऐयारी व जासूसी की प्रवृत्ति अपनी चमत्कार शैली के कारण पाठक प्रिय तो बनी ही परन्तु इससे भी आगे परिवर्तन के लिए पाठक को तैयार करने व उसके रूचि परिष्कार की दृष्टि से भी इसने बड़ा काम किया। ज्ञानचंद जैन ने देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' के शिल्प की चमत्कारप्रियकता को बायस्कोप की तरह बताया है -"'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता संतति' की कथा पाठकों का मन उसी प्रकार बांध लेती थी, जिस प्रकार बायस्कोप की चलती फिरती तसवीरें उसका मन बांधती थीं। उसमें भांति भांति की सीनरी पहाड़ों, बगीचों, पहाड़ी, झरनों, जंगलों, पुराने खंडहरों, निर्जन खोहों, महलों के गुप्त तहखानों तथा सुरंगों का विशद वर्णन था। उसमें एक ओर यदि प्रेम,

साहस, शौर्य, वीरता तथा कर्त्तव्यपरायणता के चित्र थे तो दूसरी ओर विश्वासघात, छलप्रपंच, धोखाधड़ी तथा मानव स्वभाव की कुटिलता के चित्र खींचे गए थे। - - - बायस्कोप में जिस प्रकार एक से एक अद्‌भुत दृश्यों का संयोजन करके दर्शकों का कौतूहलवर्धन किया जाता है, ठीक उसी प्रकार दोनों उपन्यासों में ऐयार, ऐयारा तथा तिलिस्म का प्रयोग किया गया है। ऐयार लोग जिस प्रकार तरह तरह के भेष बदल कर हमारे सामने आते हैं उससे पाठकों को ऐसा भाषित होता है जैसे वे उन दिनों खेली जाने वाली रामलीला देख रहें हों, जिसमें पात्र तरह तरह के रूप धर दर्शकों के सामने आते थे।"[1] देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का तिलिस्म पाठक को आश्चर्य में तो डालता है परन्तु उसकी विश्वसनीयता पर पाठक सवाल नहीं करता है, इनके उपन्यासों की शिल्प विधान की यह बड़ी विशेषता है कि कथा तत्व बिना बाधित हुए पाठक की जिज्ञासा और उसकी रुचि का परिष्कार करता है। ऐयारों का कौशल सहज रूप से बहुरूपिया कला से जुड़ जाता है। ज्ञानचन्द जैन खत्री जी के उपन्यासों की इस विशेषता को बताते हुए लिखते हैं "इस बात का बराबर ध्यान रखा गया है कि कथानक में कोई ऐसा तत्त्व न आने पावे जो बुद्धिगम्य न हो। बहुरूपियों द्वारा नाना रूप धरकर लोगों का मनोरंजन करने की परिपाटी का उस काल में लोप नहीं हुआ था। ऐयारों के तरह तरह के रूप परिवर्तन के सम्बन्ध में भी लेखक ने अपने पाठकों को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया है कि यह भी बहुरूपियों की कला का एक नमूना है। इसी प्रकार तिलिस्म के अन्दर जगह -जगह बुद्धि को चमत्कृत कर देने वाले दृश्यों का वर्णन करते समय लेखक उन करामाती वस्तुओं और पुतलों के पीछे लगी अनगिनत चर्खियों, महीन तारों और रासायनिक मसालों का वर्णन करना नहीं भूलता जिससे पाठकों को बोध रहे कि यह सब मनुष्य की कारीगरी का खेल है, इसमें अलौकिक तत्त्व नहीं है।[2]

---

[1] ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 156

[2] वही, पृष्ठ 157

आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने शिल्प विधान में भारतीय कथा-आख्यायिका की परम्परा का विकास होकर भी उससे भिन्न एक नया रूप पाठक के सामने रखते हैं। कथा-आख्यायिका में चमत्कार का प्राधान्य था और वह चमत्कार अलौकिक रूप में ही स्वीकृति पाता रहा। उसका प्रभाव संवेदना के स्तर पर कमजोर हो जाता है। चमत्कार मनोरंजन की वस्तु बन कर ही रह जाता है। जीवन के यथार्थ से उसका सम्बन्ध न के बराबर ही था। आरम्भिक हिन्दी उपन्यास इस दृष्टि से शिल्प के स्तर पर नए प्रयोग का प्रतिधित्व करते हैं। यहाँ चमत्कार कभी अलौकिक व अयथार्थ की पृष्ठभूमि के सहारे घटित नहीं होते हैं। मनुष्य की बुद्धि और विवेक ही चमत्कार का आधार है। यहाँ असंभव को संभव करने के लिए नहीं अपितु जीवन को कर्म के सौन्दर्य के बल पर साधने का चमत्कार है। जीवन का यथार्थ ही उपन्यास का यथार्थ बन कर पाठक के सामने आता है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने पाठक के मनोरंजन का जितना ध्यान रखा उतना ही साहित्य की सामाजिक उपयोगिता का भी। इन उपन्यासों की चमत्कारप्रियता एक तरह से मनुष्य में अपार संभावनाओं की तलाश है। इनका चमत्कार मनुष्य के भीतर आत्मबल जगाने का चमत्कार है। जीवन के कटु यथार्थ से निकलता इनका कथा विन्यास पाठक को संघर्ष कि सीख देता है, समस्याओं से जूझने के लिए तैयार करता है। चन्द्रकान्ता उपन्यास का यह उदाहरण पाठक को मनोरंजन के बीच सामाजिक जीवन के व्यापक फलक से जोड़ता है, यही शिल्प का चमत्कार है जो पाठक को परिवर्तन के लिए तैयार करता है – "बेटा जाओ वीर पुरुषों में नाम करो, क्षत्रिय कुल का नाम रख फतह का डंका बजाओ। शूरवीरों का धर्म है कि लड़ाई के वक्त माँ-बाप, ऐश-आराम किसी की मोहब्बत नहीं करते, सो तुम भी जाओ,ईश्वर करे लड़ाई में बैरी तुम्हारी पीठ न देखे।"[1]

[1] देवकीनंदन खत्री, चन्द्रकान्ता, पृष्ठ 59

शिल्प की चमत्कारप्रियता के पीछे कौतूहल के साथ संवेदना का भाव भी इन उपन्यासों में देखा जा सकता है। श्यामसुन्दरदास ने चमत्कार को संवेगात्मक रस की भावभूमि के साथ इस प्रकार देखा है- "किन्तु जहाँ कौतूहल ही एक मात्र उद्देश्य रहता है वहां उपन्यास अधिक उत्कर्ष नहीं प्राप्त करता। हाँ यदि कौतूहल का सर्जन करनेवाली उपन्यास की घटनावली अधिक नियमित की जाय, कार्य-कारण सम्बन्ध में अधिक पुष्ट होकर वह उपस्थित हो और पाठकों के हृदय में प्रतीक्षा, आशा, आशंका, भय आदि संवेदनात्मक भावों को भी उदित करे तो उपन्यासकार अधिक सफल कहला सकता है। हिन्दी का प्रसिद्ध चन्द्रकान्ता उपन्यास यद्यपि मुख्य रूप से कौतूहल की ही सृष्टि करता है किन्तु उपर्युक्त संवेदनात्मक भाव भी उसे पढ़ कर उदित और अस्त होते रहते हैं। किन्तु उपन्यास की प्रेमी-प्रेमिकाओं की योजना और उनकी प्रेम सम्बन्धी चर्चाएं कौतूहल से कुछ आगे बढ़कर हृदय को स्पर्श करती हैं।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने शिल्प के स्तर पर चमत्कारप्रियकता के सहारे पाठक का मनोरंजन भी कर रहे थे और नवजागरण की संस्कृति का प्रसार भी। कथा को अलौकिक से लौकिक बना देने का चमत्कार और मायावी दुनिया को मानवी दुनिया में बदलने का यह चमत्कार आरंभिक हिन्दी उपन्यासों की विशिष्ट पहचान है। यद्यपि तिलिस्मी –ऐयारी और जासूसी उपन्यास अपने उद्देश्य में मनोरंजनपरक ही बने रहे। समाज में परिवर्तन के मूल्यों से सीधा सम्बन्ध इन उपन्यासों का नहीं बन पाया और पाठक ने भी मनोरंजन की मानसिकता के साथ इनका अध्ययन किया था। फिर भी नैतिक मूल्यों की स्थापना और सामाजिक मर्यादाओं को साधते हुए इन उपन्यासों ने मनोरंजन का मानवी या लौकिक पक्ष इस प्रकार पाठक के सामने रखा कि साहित्य मन बहलाव की वस्तु न हो कर जीवन को व्यापक उद्देश्य से जोड़ने

[1] श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृष्ठ100

बड़ी शक्ति बन गया। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के गद्य में चमत्कार की यह शैली अपने विशिष्ट रूप में खत्री जी के उपन्यासों में दिखाई पड़ती है।

जीवन को नैसर्गिग रूप में देखते हुए मानव में असीमित सम्भावनाओं की खोज गद्य में एक बड़ा प्रयोग था। आरंभिक हिन्दी उपन्यासों का कथ्य और शिल्प के स्तर पर किया गया यह प्रयोग किसी चमत्कार से कम नहीं था जिसने आगे चलकर हिन्दी उपन्यास को बड़े स्तर पर प्रभावित किया।

4.भाषिक संरचना

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का विशिष्ट पक्ष उनकी भाषिक संरचना है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने उपन्यास की कथा को विश्वसनीय बनाने के लिए सबसे अधिक ध्यान भाषिक संघटन पर दिया। लगभग सभी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की भूमिका में भाषा को लेकर अपने प्रयोग की खुलकर चर्चा की है। हिन्दी के पहले उपन्यास में सुमार 'देवरानी जेठानी की कहानी' में पं० गौरीदत्त ने भाषा की दृष्टि से जो नवीन प्रयोग किये उसका संकेत पुष्पपाल सिंह ने इस प्रकार दिया – "देवरानी जेठानी की कहानी की भाषा का जन भाषा से सहज जुड़ाव, किस्सागोई का अनूठा संस्कार, लोकभाषा के अर्थ-गर्भित शब्दों का सचेत प्रयोग, बोलचाल या यों कहें बोली–बानी का टटका रंग और उसमें मुहवारेदानी और लोकोक्तियों का जड़ाव – ये सब विशिष्टाएँ उपन्यास के कथा मिजाज की भाषा का सृजन करती हैं"।[1]

तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास लेखक देवकीनंदन खत्री ने अपने उपन्यासों में भाषा के स्तर पर जो प्रयोग किये उसकी चर्चा तो हिन्दी के लिए पाठक जुटाने के रूप में होती रही है। खत्री जी ने अपने उपन्यासों की भाषा की विशेषता बताते हुए कहा 'इसके पढ़ने के लिए कोष की तलाश नहीं करनी पड़ती है।' गोपाल राय ने खत्री जी के उपन्यासों की भाषा की विशेषता बताते हुए लिखा है – "वस्तुत: खत्री जी की भाषा कवित्व और अलंकारिकता से मुक्त है। वैसे तो यह भाषा तत्कालीन कथापाठकों की पठन क्षमता को ध्यान में रख कर लिखी गयी थी पर यही वह भाषा थी जो यथार्थ से जुड़े

[1] पुष्पपाल सिंह, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 9

उपन्यास की भाषा बन सकती थी। जब प्रेमचंद ने हिन्दी में उपन्यास लिखना आरम्भ किया तो उन्होंने खत्री जी के सरल, निराडम्बर गद्य को ही अपनी भाषा का आधार बनाया।"[1]

देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' की भाषिक संरचना का विश्लेषण करते हुए भरत सिंह ने अपने लेख में लिखा - "चन्द्रकान्ता की भाषा का अपना विशेष महत्त्व है। घटनात्मक उपन्यास की आवश्यकता के अनुरूप खत्री जी ने यथार्थवादी-व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया। अपने भाषिक संस्कार और सरंचना के कारण चन्द्रकान्ता को अभूतपूर्व सफलता मिली। खत्री जी विशुद्धतावादी नहीं थे। उन्होंने बेखटके उर्दू के आमफहम शब्दों का प्रयोग तो किया ही कुछ अप्रचलित शब्द भी उनकी भाषा में आये, जैसे –बालादवी, तखलिया, तरदुद, जफील, मुस्तहक, मौकूफ, कबाहट आदि। आम बोलचाल की हिन्दी में लिखा गया 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास हिन्दी की भाषिक प्रकृति का श्रेष्ठ नमूना कहा जा सकता है, लेकिन यह भाषा संसार घटनात्मक उपन्यासों के लिए तो प्रासंगिक है। इस भाषा में गंभीर औपन्यासिक रचना करना संभव नहीं।"[2]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की भाषिक संरचना के विकास को गोपाल राय ने इस प्रकार रेखांकित किया है - "देवरानी जेठानी की कहानी से 'परीक्षा गुरु' तक उपन्यासों में प्रयुक्त भाषा की दो परम्पराएँ विकसित होती दिखाई देती है। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती', 'परीक्षा गुरु' आदि में दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली भाषा का रूप दिखाई देता है। यद्यपि लाला श्रीनिवासदास ने कहीं कहीं वर्णनों को साहित्यिक पुट देने का प्रयास किया है, पर उनकी भाषा सरल सपाट ही है। पात्रों के अनुरूप भाषा में बदलाव का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न भी परीक्षा गुरु में नहीं दिखाई पड़ता।

---

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ76

[2] गोदारण (पत्रिका), भरत सिंह का लेख 'चन्द्रकान्ता: कथ्य विश्लेषण', पृष्ठ 78

दूसरी भाषिक परम्परा के प्रवर्त्तक भारतेंदु हरिश्चन्द्र और विशेष रूप से बालकृष्ण भट्ट माने जा सकते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने औपन्यासिक गद्य की पूर्वी परम्परा का सूत्रपात किया जिसमें तद्भव शब्दों के साथ-साथ सुपरिचित तत्सम शब्दों, ललित पदों से युक्त वाक्यों और सर्जनात्मक भाषा की प्रधानता है। इस भाषा परम्परा का विकास बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने अपने उपन्यासों में किया। बालकृष्ण भट्ट ने प्रकृति और प्रेम वियोग आदि के वर्णनों में संस्कृत गद्यकाव्य की परम्परा का अनुसरण किया। औपन्यासिक गद्य की ये दोनों परम्पराएँ उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में, और कुछ बाद में भी, साथ-साथ अग्रसर होती दिखाई देती हैं।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यास भाषा के स्तर पर काल्पनिक कथा की विश्वसनीय अभिव्यक्ति को बड़े ही सहज रूप में साधते हैं। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास की भाषा के सम्बन्ध में पुष्पपाल सिंह ने लिखा है - "भाषा की दृष्टि से इस उपन्यास का विशिष्ट महत्त्व है। कथा विधा के मिजाज से सर्वथा मेल खाती यह भाषा आज भी कथा कर्म में प्रवृत लोगों के लिए दिशा बोधक सिद्ध हो सकती है। इसमें जो जीवनगंधी स्पर्श प्राप्त होता है, बिना किसी अतिरक्त प्रयास के, वह एक उपलब्धि है, वह हमें एक साथ ही प्रेमचंद और रेणु की स्मृति कराता है।"[2]

भाषा की सजगता आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में जिस रूप में देखने को मिलती है वह यथार्थ के अधिक अनुकूल तथा भाषा के सृजनात्मक प्रयोग की लेखकीय कुशलता का प्रतिनिधित्व करते जान पड़ती है। 'भाग्यवती' उपन्यास की भूमिका में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने उपन्यास की भाषा की विशेषता को इस प्रकार स्पष्ट किया –"इस ग्रन्थ में जिस देश और जिस भांति के स्त्री पुरुषों की बातचीत हुई है वह उसी की बोली और ढब से लिखी है अर्थात् पूरबी,

[1] गोपालराय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ 56-57

[2] पुष्पपाल सिंह, देवरानी जेठानी की कहानी, पृष्ठ 17

पंजाबी, पढ़ा, अनपढ़ा, स्त्री और पुरुष गौण मुख्य जहाँ पर जो कोई जैसे बोला उसी की बोली भरी हुई है।"[1]

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास मुहावरेदार भाषा का नमूना प्रस्तुत करते हैं। 'धूर्त-रसिकलाल' में इसी मुहावरेदार भाषा के प्रयोग जैसे 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की', 'उसने अपने ही हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी', 'क्यों दाई के आगे पेट छिपाना' आदि।

मेहता लज्जाराम शर्मा के दूसरे उपन्यास 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में सांकेतिक भाषा शैली का प्रयोग हुआ है। सब कुछ कह देने के स्थान पर पाठक को संकेत कर देना अधिक प्रभावी होता है। 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' का यह उदहारण देखिये- "बाग में हाथ में हाथ मिलाये दोनों ने सैर की। गाड़ी से उतारते चढ़ाते वा ऊँची नीची जगह रमा को सहारा देना नवीन सभ्यता का नियम था। स्त्री के शरीर स्पर्श से पुरुष की और पुरुष के शरीर स्पर्श से स्त्री की जैसी स्थिति होती है उसके प्रकाश करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।" [2]

'परीक्षा गुरु' में लाला श्रीनिवासदास ने शिल्प के स्तर पर नवीन प्रयोग किये हैं। भाषा की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' अधिक परिपक्व रचना है। यद्यपि परीक्षा गुरु की भाषा उपदेशात्मकता के भार से दबी रह जाती है। वाक्य विन्यास अंग्रेजी ढंग का है फिर भी भाषिक गठन की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' संभावनाओं का उपन्यास है। विचारों की गंभीरता को अभिव्यक्ति देने में भाषा सफल रही है – "'पोप कहता है भूल करना मनुष्य का स्वभाव है परन्तु उस्को क्षमा करना ईश्वर का गुण है' एक अपराधी अपना कर्त्तव्य भूल जाये तो क्या उस्की देखा देखी हम को भी अपना कर्त्तव्य भूल जाना चाहिए. सादी ने कहा है –

[1] श्रद्धाराम फिल्लौरी, भाग्यवती, भूमिका

[2] मेहता लज्जाराम शर्मा, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, पृष्ठ 23

'होत हुमे याही लिए सब पक्षिन को राय।।
अस्थिभक्ष रक्षे तनहिं काहू को न सताया।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का शिल्प पक्ष भाषा के माध्यम से कथ्य को विश्वसनीय बनाने तथा अनुभव की व्यापकता को भाषा में उतारकर गद्य को परिवर्तनकामी बनाने का सफल प्रयास है। जीवन-सरिता के साहित्यिक प्रवाह के साथ भाषा का बंधन पाठक को उपन्यास से जोड़ता है। कथ्य को विश्वसनीय बनाते हुए यथार्थ की औपन्यासिक संस्कृति की सृजनात्मक अभिव्यक्ति आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के भाषिक संघठन से ही संभव हो पाई है। भाषा का सहज रूप जो बिना लागलपेट के कथ्य को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, आगे चलकर फणीश्वरनाथ रेणु के आँचलिक उपन्यासों में फलीभूत हुआ।

भाषिक दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की कड़ी प्रेमचंद और रेणु के उपन्यासों से जुड़ती है। भाषा का परिष्कार जो प्रेमचंद और रेणु में मिलता है उसके संस्कार इन्हीं आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों के भाषिक प्रयोग में देखे जा सकते हैं। कल्पनात्मक और सृजनात्मक गद्य को साधे आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की भाषिक संरचना नवजागरण की संस्कृति को धारण करते हुए उपन्यास की भारतीयता की पहचान स्थापित करने में सफल रही है। इसीके सहारे आगे चलकर हिन्दी का उपन्यास साहित्य समृद्ध और सशक्त हुआ।

[1] लाला श्री निवासदास, परीक्षा गुरु, पृष्ठ 92

उपसंहार

उपन्यास गद्य साहित्य की मुख्य विधा है जिसे बदलते समाज और संस्कृति की साहित्यिक अभिव्यक्ति कहा जाता है। उपन्यास पश्चिम में पुनर्जागरण की चिन्तना का साहित्यिक परिणाम बन कर सामने आया। पुनर्जागरण की संस्कृति, पूँजीवादी अर्थतंत्र और वैज्ञानिक अविष्कारों से सर्जित चेतना ने उपन्यास के उदय की परिस्थितियाँ उत्पन्न की। उपन्यास वैचारिक बदलाव का सूचक है। जब धार्मिक मनुष्य की जगह प्राकृतिक मनुष्य केन्द्र में आया और भावना का स्थान विवेक आधारित तर्कशीलता ने लेना शुरू किया तब गद्य विधा के रूप में उपन्यास का जन्म हुआ। विचार प्रधान संस्कृति के सरोकारों की अभिव्यक्ति में पद्य विधाएं अधिक प्रभावी नहीं हो पा रही थी ऐसे में साहित्य की अपार संभावनाओं के साथ उपन्यास का उद्भव हुआ। पुनर्जागरण की संस्कृति ने आधुनिक मनुष्य को जिस रूप में देखा,उपन्यास उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति है। उपन्यास एक तरफ अपने उद्भव में सामाजिक बदलाव की उपज है तो दूसरी तरफ वह इन बदलावों का सेतु। उपन्यास के रूप विधान की गतिशीलता ने समाज की प्रगतिशीलता को जितनी कुशलता से साधा है उतनी साहित्य की दूसरी विधाएं शायद नहीं साध पाई। यही कारण की उपन्यास आधुनिक मनुष्य के जीवन का गद्य कहलाता है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उपन्यास का उदय पश्चिम में हुआ है परन्तु वह अपने आरम्भ से ही भारतीय कथा-आख्यायिका से प्रभावित था।जिस प्रकार भारतीय उपन्यास अंग्रेजी 'नॉवेल' से प्रभावित है उसी प्रकार पाश्चात्य 'नॉवेल' भी अपने कथा विधान में भारतीय कथा-आख्यायिका के तत्त्व लिए था। यह समझ तभी विकसित हो पायेगी जब उपन्यास की पाश्चात्य

अवधारणा के साथ उसकी भारतीय अवधारणा को भी जानने की कोशिश हो। पहले अध्याय में उपन्यास के उदय के साथ उपन्यास की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणा पर विचार करते हुए पाया कि भारतीय उपन्यास को अंग्रेजी नॉवेल के साथ जोड़ कर देखने के साथ ही उससे अलगाने की भी आवश्यकता है क्योंकि हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों के माध्यम से उसका जो रूप सामने आया वह अंग्रेजी उपन्यास की नक़ल नहीं था। कुछ ऐसी बातें भी थी जो उपन्यास की भारतीय पहचान स्थापित करती है।

उपन्यास अपने विधान में इतना जटिल है कि इसकी कोई निश्चित परिभाषा और अवधारणा नहीं बन सकी है। वह जीवन की जटिलता को उसके अंतर्विरोधों के साथ अभिव्यक्ति देता है। श्यामसुन्दरदास ने उपन्यास के इस विधान पर विचार प्रकट करते हुए कहा - "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसी की कथा कहता है।यदि ऊपर की पंक्तियों का निष्कर्ष निकालकर उपन्यास की व्याख्या करें और कहें कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है तो यह अधिक असंगत न होगा।"[1]

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रवृत्तियों के वैशिष्ट्य के साथ तत्कालीन समाज की मनोदशा को भी सामने लाता है। यह अध्ययन एक तरह से नवजागरण की संस्कृति के आलोक में उस समय के समाज का अध्ययन, उस समय की राजनीति का अध्ययन और उस समय की आर्थिक एवं सांस्कृतिक अवस्थिति का भी अध्ययन है। प्रवृत्तियों के विविध रूप तत्कालीन समाज की रूचि और आवश्यकता का साहित्यिक प्रतिनिधित्व करते हैं। इसको उपनिवेशवादी मूल्यों के अनुकरण और टकराहट के संदर्भ में समझा जा सकता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकार इस कार्य को जिस जिम्मेदारी से कर रहे थे, वह उस समय की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

[1] श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृष्ठ 99

विधागत अस्पष्टता के साथ उपन्यास की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणा के बीच सन्तुलन स्थापित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों में उपन्यास के पाश्चात्य शिल्प विधान के साथ भारतीय कथा की जातीय परम्परा भी अविरल रूप से बह रही थी। संस्कृतियों की टकराहट को सृजनात्मकता के साथ साधता हुआ उपन्यास साहित्य पाठक का मनोरंजन भी कर रहा था और उनमें नवजागरण की चेतना का संचार भी।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में कथा की जातीय परम्परा के आलोक में पाश्चात्य नॉवेल का शिल्प विधान मुखरित हो रहा था। इनमें एक तरफ भारतीय समाज के कमजोर पक्ष का आन्तरिक सत्य उद्घाटित हो रहा था, वहीं दूसरी तरफ उसी पारम्परिक भारतीय समाज को पाश्चात्य मूल्यों के अन्धानुकरण के खतरों से बचाने का प्रयास भी। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के इस प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य ने हिन्दी उपन्यास के विकास की दिशा को नये आयाम प्रदान किये। वर्तमान हिन्दी उपन्यास की सफलता के बीज इन्ही प्रवृत्तियों के वैविध्य में निहित हैं।

साहित्य सामाजिक उत्पाद भी होता है और उस उत्पाद की विपणन विधि भी।इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यास पाठक तक पहुँच ही नहीं रहे थे, पाठक को अपनी ओर खींच भी रहे थे। वे अपने पाठकों में साहित्य की समझ भी विकसित कर रहे थे और कथारस की जिज्ञासा का संचार भी। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की यह भूमिका आश्वस्त करने वाली रही कि वे अपने युग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं और परिवर्तन की संभावनाओं की साहित्यिक सृष्टि भी।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों पर शोध करते हुए जो सबसे बड़ी चुनौती आई वही इस शोध की मौलिकता का आधार बनी है। एक तो उपन्यास की स्वीकृत पाश्चात्य अवधारणा के साथ उसकी भारतीय

अवधारणा का तार्किक विश्लेषण और दूसरा उपन्यास के उद्भव की योरोपीय परिस्थतियों और हिन्दी उपन्यास के उद्भव की भारतीय परिस्थतियों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचना। यह अपने आप में चुनौती भी था और शोध का आकर्षण भी। शोध के माध्यम से उपन्यास की विधागत अस्पष्टता के बीच पहले मौलिक हिन्दी उपन्यास की बहस को नए विश्लेषण के साथ एक समन्वित और सन्तुलित निष्कर्ष तक पहुँचाया है। यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि यह निष्कर्ष ही है निर्णय नहीं। यह निष्कर्ष अपने आप में बहस की नयी संभावनाएं हैं बहस पर विराम या पूर्णविराम नहीं। कालक्रम, विजन(vision) और शिल्प की नवीनता के त्रिआयामों के आधार पर पहले मौलिक हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध में दिये गये निष्कर्ष तथ्यों का सन्तुलन है विचारों की मौलिकता का दावा नहीं। कभी- कभी मौलिकता से अधिक सन्तुलन का महत्त्व हो जाता है और सन्तुलन का जीवन दर्शन, साहित्य के दर्शन के निष्कर्ष का आधार बन सकता है। इस तथ्य के आलोक में कालक्रम की दृष्टि से पंडित गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870 ई०), विजन (Vision) की दृष्टि से श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' (1877ई०) और शिल्प की नवीनता दृष्टि से लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (1882 ई०) हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास कहे जा सकते हैं।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन से यह बात सामने आती है कि शुरूआती दौर के प्रत्येक हिन्दी उपन्यास में संरचनागत विशिष्टता है। हिन्दी साहित्य की यह विधा जब आकार ग्रहण कर रही थी, तब इसमें स्पष्ट रूप से एकरूपता देखने को नहीं मिलती बल्कि रचनाकार अपने-अपने तरीके से इस विधा को प्रकाश में ला रहे थे। यह वैविध्य विषयवस्तु, विजन और शिल्प के सभी स्तरों पर देखने को मिलता है। पहले से चली आ रही विधाओं के बरक्स हिन्दी उपन्यास इस अर्थ में भी अलग था कि इसमें पहली बार कल्पना के साथ यथार्थ के आग्रह और घटना की विश्वसनीयता को साधा गया। इस दृष्टि से उपन्यास का विधान नाटक से आगे निकल जाता है। नाटक में चरित्र जहाँ

पहले से निर्धारित रहते हैं वहीं उपन्यास में चरित्रों का उद्घाटन उसकी कथा के विकास के साथ होता है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यास चरित्र वैविध्य के साथ घटना वैविध्य को अपनी प्रवृत्तियों में समाहित करते हुए अपने समय की यथार्थ अभिव्यक्ति बनते हैं। आरम्भिक दौर के हिन्दी उपन्यास नयी विशेषताओं को अर्जित करते हैं और प्रत्येक उपन्यास अपनी प्रवृत्ति के साथ इस विधा में कोई न कोई नया आयाम जोड़ता है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ हिन्दी उपन्यास के उद्भव की नवजागरण चेतना को समाहित किये हैं। नवजागरण की लहर जिस रूप में समाज में फैल रही थी। हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां भी बहुत कुछ उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति बन कर समाज स्वीकृत हो रही थी। उस दौर में राजनीतिक परिदृश्य में आ रहे बदलाव से साथ-साथ सामाजिक परिदृश्य में भी बड़े बदलाव आ रहे थे। व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में आ रहे बदलावों को व्यक्त करने के लिए और नई पीढ़ी को संवेदनात्मक रूप से उसके अनुकूल ढालने में साहित्य की भूमिका को आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है।

मनोरंजनपरक रोमांस की प्रवृत्ति निराशा में आशा का संचार व यथेष्ट की प्राप्ति के लिए संघर्ष के आदर्श को पाठक के सामने रख रही थी।देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का तिलिस्म भरा रोमांस तत्कालीन परिस्थितियों में अपना राष्ट्रीय महत्त्व रखता है।1857 ई० के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के साथ शुरू हुआ राष्ट्रवाद का स्वर भी अप्रत्यक्ष रूप से इन उपन्यासों की घटनाओं से जुड़ता है। इन उपन्यासों की कथा में क्रन्तिकारी गतिविधियों और संघर्ष की मानसिकता के संकेत निहित हैं। साथ ही भीतर घात से सावधान रहने का राजनीतिक सन्देश भी। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' के ऐयारों का एक पक्ष क्रांतिकारियों की रणनीति से भी जुड़ता है।इस दृष्टि से इन उपन्यासों का नया मूल्यांकन होना चाहिए। केवल

मनोविनोद के लिए लिखा जाना कह कर हम युगीन सत्य को नकार रहे होते हैं जो उपन्यास के यथार्थ के आग्रह का बड़ा आधार है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की सुधारवादी प्रवृत्ति भारतीय नवजागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। इन उपन्यासों की सुधारवादी प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सुधारवाद का स्वर भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में नवजागरण की चेतना का प्रसार था। यह सुधारवाद उपन्यास की भारतीय अवधारणा के अधिक अनुकूल था। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'भाग्यवती' और 'वामाशिक्षक' आदि उपन्यासों की सुधारवादी प्रवृत्ति में भारतीय समाज जिस रूप में सामने आता है वह एक तरफ ब्रिटिश शासन के सुधारों का परिणाम था तो दूसरी तरफ उससे टकराहट लिए भारतीय नवजागरण की चेतना का सांस्कृतिक पुनरुत्थान। मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'धूर्त-रसिकलाल' और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' की सुधारवादी प्रवृत्ति उपनिवेशवाद से टकराहट लिए इसी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का स्वर बनती है।आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के सुधारवाद ने समाज को भटकाव से बचाया और छद्म संस्कृतिकरण की दावों के खिलाफ भारतीय समाज की जीवन्तता को नए रूप में वर्णित किया।इस दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने युग का समाजशास्त्रीय अध्ययन ही नहीं, अपितु उसकी सांस्कृतिक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन का विजन प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य की समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी का प्रमाण है। आरम्भिक उपन्यासकारों की भूमिका को यह कह कर ख़ारिज करना कि उनका सुधारवाद एक पक्षीय था और मात्र स्त्रियों के लिए पुरुष वर्चस्व की अधीनता का सुधारवाद था, तथ्यों की गलत व्याख्या ही कहा जायेगा। इस संदर्भ में ध्यान देने की बात है कि स्त्री चेतना का स्वर आज जिस रूप में स्वीकार किया जाता है उसकी दृष्टि से उस समय के समाज

और साहित्यिक परिदृश्य को नहीं देखा जा सकता है।यह भी सच है कि साहित्य सम्भावनाओं को तलाशता है। शायद उस समय सुधार की सम्भावना पुरुष से अधिक स्त्री में थी और उसका परिणाम सकारात्मक ही रहा। इस दृष्टि से आरम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों की दूरदर्शिता की टांग खिंचाई के स्थान पर उनकी प्रशंसा होनी चाहिए। किसी आरंभिक विधा से इससे अधिक अपेक्षा रखना अपने आप में न्यायसंगत नहीं है ।

प्रस्तुत शोध के माध्यम से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सुधारवाद एक पक्षीय नहीं था। 'परीक्षा गुरु' और 'धूर्त-रसिकलाल' जैसे उपन्यास स्त्री-सुधार के स्थान पर स्पष्ट रूप से पुरुष- सुधार की बात कर रहे थे। 'परीक्षा गुरु' के मदन मोहन और 'धूर्त-रसिकलाल' के सोहनलाल के चरित्र पुरुष-सुधार की चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यास अपने कथा विधान में तत्कालीन समाज की मनोदशा को अभिव्यक्त कर रहे थे।इन उपन्यासों में उठाये मुद्दों से पता चलता है कि नवजागरण का भारतीय समाज के किन-किन क्षेत्रों पर अधिक प्रभाव पड़ा और कहाँ –कहाँ समाज अभी भी पुरातन सोच में परिवर्तन करने को तैयार नहीं था। विधवा विवाह के संदर्भ में अभी उत्तर भारतीय समाज का कुलीन वर्ग ऊहापोह की स्थिति में था जबकि समाज का निचला तबका इस दृष्टि से आधुनिक सोच के अधिक करीब था। यह आधुनिकता पश्चिम की देन नहीं परम्परावादी समाज के भीतर से निकली थी जिसकी जड़ें हमारे अतीत में बसी थी। क्योंकि पश्चिमी ढंग की शिक्षा और संस्कारों से इस तबके का कोई वास्ता अभी तक नहीं हुआ था। बालविवाह को लेकर विधवा विवाह वाली स्थिति नहीं थी। इसे मुस्लिम शासन के प्रभाव के रूप में ही देखा गया अत: इसके विरोध में भारतीय समाज द्वंद्व में नहीं था।यही कारण है कि सभी आरम्भिक उपन्यासकारों ने इस कुरीति का विरोध किया है।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की स्त्री-शिक्षा और सुधारवादी प्रवृत्ति का समाजशास्त्रीय अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सुधार के केन्द्र में स्त्री का आना घर-परिवार की संस्कृति के भीतर राष्ट्रीय गौरव की तलाश थी क्योंकि समाज व राजनीति में अंग्रेज पहले ही अपनी श्रेष्ठता व शक्ति को भारतीयों पर थोपने में सफल हो चुके थे। स्त्री के माध्यम से अभी भी राष्ट्र पश्चिमी उपनिवेशी सभ्यता से टक्कर लेने की स्थिति में था। पश्चिम में स्त्री की सामाजिक भूमिका नगण्य हो गयी थी। वह इस दृष्टि से बड़ी जिम्मेदारी निभाने में भी असफल रही। वह वहाँ घर-परिवार के केंद्र से बाहर हो गयी थी। पारिवारिक सम्बन्ध टूट रहे थे। जबकि भारतीय परिवार के केन्द्र में अभी भी स्त्री थी। भारतीय स्त्री का चरित्र वह प्रतिमान था जिसके सहारे उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रवाद की सांकृतिक चेतना को वैचारिक स्तर पर उससे टकराहट के रूप में साधा जा सकता था।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की विषयवस्तु में किसान जीवन का न आ पाना यथार्थ की दृष्टि से कमजोर पक्ष रहा है। भारतीय किसान ही उपनिवेशवाद और सामंतवाद के गठजोड़ का पहला शिकार था। वही सबसे अधिक शोषित और उत्पीड़ित था। जब तक किसान उपन्यासों के केंद्र में नहीं आया भारतीय राष्ट्रवाद का दायरा भी नहीं बढ़ पाया। आगे चल कर प्रेमचंद किसान जीवन के चितेरे बनते हैं जिनसे हिन्दी उपन्यास की स्वतंत्र पहचान स्थापित होती है। यहाँ भारतीय उपन्यास के संदर्भ में देखें तो डॉ० मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में कह सकते हैं कि "भारतीय उपन्यास को किसान जीवन की महागाथा बनाने की परम्परा का आरम्भ उड़िया के कथाकार फकीर मोहन सेनापति(1843-1918) के उपन्यास 'छमाड़ आठ गुंठ' (1897) से होता है।"[1] इस उपन्यास में आया जलकाक और बगुले का रूपक भारतीय राष्ट्रवाद की

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 287

सटीक औपन्यासिक सर्जना है। ऐसी सर्जना आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में नहीं आ सकी जबकि इसकी संभावनाएं थी।

नामवर सिंह अपने लेख 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' और भारतीय उपन्यास में "जो हो इसमें कोई शक नहीं कि बंकिम के प्रेम-केन्द्रित रोमांस कोरे प्रेम से कुछ अधिक अर्थ व्यंजित करते हैं।प्रेमियों का आत्मबलिदान कहीं राष्ट्र के लिए आत्मबलिदान का सन्देश देता है तो कहीं प्रेमियों का मिलन -प्रसंग अधिक व्यापक एकता की ओर संकेत हैं।"[1] यदि नामवर जी बंकिम चन्द्र के उपन्यासों के प्रेम-प्रसंगों में राष्ट्र के लिए आत्मबलिदान के संकेत पाते हैं तो हमें यह भी मानना चाहिए कि देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास भी क्रन्तिकारी आदर्श का स्पष्ट संकेत करते हैं, उनका भी तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में उतना ही महत्त्व था। खत्री जी के 'ऐयारों' से त्याग और उत्सर्ग का राष्ट्रीय संकेत ग्रहण करने में हमें परेशानी नहीं होनी चाहिए। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के समाजशास्त्रीय पक्ष के साथ इस राजनीतिक और राष्ट्रीय का पक्ष का भी मूल्यांकन होना चाहिए।

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों के विश्लेषण के संदर्भ में बात करते हुए हमें हिन्दी उपन्यास के उदय को व्यापक स्तर पर भारतीय उपन्यास के उदय की पृष्ठभूमि के साथ रख कर देखने की जरूरत है। यह पृष्ठभूमि उपन्यास की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणा के अन्तर को समझने में भी सहायक होगी। योरोप में उपन्यास के उदय और भारत में उसके उदय की स्थितियां एकदम विपरीत थी। ऐसे में भारतीय उपन्यास की स्वतंत्र भारतीय अवधारणा को समझकर ही हम उपन्यास विधा के साथ न्याय कर सकते हैं। मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि "भारत में उपन्यास का जन्म अभिशप्त स्थितियों में हुआ। उस अभिशाप की छाया भारतीय उपन्यास पर लम्बे समय तक पड़ती रही। उससे से मुक्ति के लिए उपन्यास विधा को कठिन संघर्ष

[1] नंदकिशोर नवल (संपा०), नामवर संचयिता, पृष्ठ 267

करना पड़ा। भारत में उपन्यास का जन्म उन्नीसवीं सदी के मध्य में तब हुआ जब देश में अंग्रेजी राज था।उपनिवेशवाद के कारण भारतीय समाज के यथार्थ और भारतीय जनता की चेतना में ऐसे अन्तर्विरोध थे,जो उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक थे।"[1]

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ उपन्यास विधान की नयी बहस के साथ अनवरत रूप से बहती हुयी वर्तमान के उपन्यास साहित्य में समाहित होती है। समाज के विकास के साथ उपन्यास साहित्य की विकास धारा भी अनेक उतार-चढ़ाव के बीच अपना क्रमिक विकास बनाये रखने में सफल रही है।आरम्भिक हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों का यह अध्ययन इसी विकास और संघर्ष को जानने की प्रक्रिया का हिस्सा है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जब इतिहास बदल सकता है तो धारणाएं क्यों नहीं और एक पक्षीय धारणाओं को बदलना तो समय की मांग और साहित्य की नफासत होती है। अकबर महान था या महाराणा प्रताप, के ऐतिहासिक मुद्दे पर जब इतिहासकार एक मत नहीं है, तो फिर आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों और उनकी साहित्यिकता पर नयी बहस क्यों नहीं हो सकती।

बहस का नतीजे पर पहुँचने से अधिक महत्त्वपूर्ण, उसका जारी रहना होता है। यही साहित्य का स्वभाव है। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों का प्रवृत्ति वैविध्य एक तरह से साहित्य का स्वभाव भी है और युगीन समाज का सच भी। इनमें साहित्य की रचनात्मकता बस्ती है जिसने हिन्दी उपन्यास को अधिक प्रामाणिक और सृजनात्मक रूप दिया।

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 277

आधार ग्रन्थ सूची

- **देवरानी जेठानी की कहानी** – पंडित गौरीदत्त, संपादक पुष्पपाल सिंह, रे माधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लि०, नई दिल्ली 2006 {1870 में प्रथम प्रकाशन}
- **वामाशिक्षक** – मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय, संपादन गरिमा श्रीवास्तव, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दूसरी आवृत्ति 2014 {सन 1883 में पुस्तक रूप में}
- **भाग्यवती** – श्रद्धाराम फिल्लौरी, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010 {1877 में लिखा गया और 1887 में पुस्तकाकार}
- **निःसहाय हिन्दू** – राधाकृष्ण दास, ग्रन्थलोक प्रकाशन, दिल्ली, 2009 {सन 1881 में लिखा गया, 1890 में पुस्तकाकार}
- **परीक्षागुरु** - लाला श्रीनिवासदास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, {1982 में लिखा गया}
- **नूतन ब्रहमचारी** (एक सहृदय के हृदय का विकास) – बालकृष्ण भट्ट, ज्ञान मंडल लिमिटेड, बनारस, 1940, {1886 में पुस्तकाकार छपी}
- **सौ अजान एक सुजान** – बालकृष्ण भट्ट, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ 1985, {1890 से 1895 तक 'हिन्दी प्रदीप' में धारावाहिक रूप में प्रकाशन, 1906 में पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशन}
- **चन्द्रकान्ता** - देवकीनंदन खत्री, भारत बुक भंडार, दिल्ली, 2007 {1888 में पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशन}
- **चन्द्रकान्ता संतति** – देवकीनंदन खत्री, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2009 {1896 में पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशित}
- **धूर्त-रसिकलाल** - मेहता लज्जाराम शर्मा, वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई, 1899
- **स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी** - मेहता लज्जाराम शर्मा, वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई, 1899

- **घराऊ घटना** – भुवनेश्वर मिश्र, नवल किशोर प्रेस लखनऊ {1891 से 1893 तक हिन्दी बंगवासी में धारावाहिक रूप में प्रकाशन, 1894 में पुस्तकाकार रूप में}
- **श्यामास्वप्न**– ठाकुर जगमोहन सिंह, ग्रन्थ केतन, वेस्ट, गोरखपार्क शहादरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009 {1885 में लिखा गया, प्रथम पुस्तकाकार प्रकाशन 1888}

सहायक ग्रन्थ सूची

- आलोक गुप्त, **भारतीय उपन्यास की अवधारणा**, रंगद्वार प्रकाशन, गुजरात, 1999
- आयन वाट, **उपन्यास का उदय**, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 1990
- ओम शुक्ल, **हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास** - अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर, 1964
- कृष्णदत्त पालीवाल (संपा०), **अज्ञेय; प्रतिनिधि निबन्ध**, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 2011
- कृष्णा नाग, **किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों का वस्तुगत और रूपगत विवेचन**, प्रकाशक - लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, अस्पताल मार्ग, आगरा 1966
- गणपतिचन्द्र गुप्त, **साहित्यिक निबन्ध**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000
- गरिमा श्रीवास्तव, **भारतीय साहित्य के निर्माता**, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008
- गोपाल राय, **हिन्दी उपन्यास का इतिहास**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- गोपाल राय, **उपन्यास का शिल्प**, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973
- गोपाल राय, **उपन्यास की संरचना**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- गोपाल राय, **हिन्दी उपन्यास का इतिहास,** राजकमल प्रकाशन, 2010
- नगेन्द्र, हरदयाल (संपा०) **हिन्दी साहित्य का इतिहास,** मयूर पेपर बैक्स, इंद्रापुरम, नई दिल्ली, 2016
- नगेन्द्र, (संपा०), **हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती**, विनोद पुस्तक मंदिर, 1972
- नरेंद्र कोहली, **हिन्दी उपन्यास सृजन और सिद्धान्त,** वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002

- नामवर सिंह (संपा०– आशीष त्रिपाठी), **हिन्दी का गद्य पर्व** –राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- नामवर सिंह, (संपा० – आशीष त्रिपाठी), **प्रेमचन्द और भारतीय समाज,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2010
- नामवर सिंह, **वाद-विवाद-संवाद,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2007
- निर्मला जैन, **साहित्य का समाज-शास्त्रीय चिन्तन**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, 1986
- नित्यानंद तिवारी, **आधुनिक साहित्य और इतिहास-बोध,** वाणी प्रकाशन , नई दिल्ली 2009
- परमानन्द श्रीवास्तव, **उपन्यास का पुनर्जन्म**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- पुरुषोत्तम अग्रवाल, **विचार का अनंत** –राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
- प्रदीप सक्सेना, **1857 और नवजागरण के प्रश्न**, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली 2004
- प्रदीप सक्सेना, **तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र**, शिल्पायन, दिल्ली, 2007
- बच्चन सिंह, **हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009
- बच्चन सिंह, **आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,** राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2007
- बिपिन चन्द्रा (संपा०), **आधुनिक भारत का इतिहास** –अनामिका पब्लिशर्स ऐन्ड डिस्ट्रीब्यूटर, नई दिल्ली, 2009
- भारतभूषण अग्रवाल, **हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव**, किताब घर प्रकाशन, दरियागंज, 2009
- मधु धवन, **साहित्यिक विधाएं; सैद्धान्तिका पक्ष,**वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- मधुरेश, **हिन्दी उपन्यास का विकास,** सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008

- मंजु लता सिंह, **हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग**, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1971
- मैनेजर पाण्डेय, **साहित्य और इतिहास दृष्टि**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
- मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
- मैनेजर पाण्डेय, **सहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका**, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2006
- यश गुलाटी, **बृहत् साहित्यिक निबन्ध** - सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क-दिल्ली, 2007
- रजनी पाम दत्त, **आज का भारत**, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2004
- रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009
- रामचन्द्र तिवारी, **हिन्दी का गद्य साहित्य**, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2006
- रामविलास शर्मा, **भारतेंदु हरिश्चंद और नवजागरण की समस्याएं,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
- रामविलास शर्मा, **महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
- राजेन्द्र यादव, **उपन्यास: विसर्ग, स्वरूप और संवेदना**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- राजेन्द्र यादव (संपा०), **अट्ठारह उपन्यास**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1981
- रामदरश मिश्र, (संपा॰) **हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष** - गिरनार प्रकाशन, पिलाजी गंज महेसाना (उ० गुजरात) 1984

- रामदरश मिश्र, **हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा** - राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1968
- रैल्फ फॉक्स, **उपन्यास और जन समुदाय,** परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2006
- रैल्फ फॉक्स, **उपन्यास और लोक जीवन,** पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2008
- एल० आर० शर्मा, उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1993
- विजयशंकर मल्ल (संपा०), **प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली,** नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1992
- विष्णु शर्मा, पंचतन्त्र (अनुवाद- आचार्य वादरायण), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011
- वीर भारत तलवार, **रस्साकसी**, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2006
- वीर भारत तलवार, **राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य; कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ,** हिमाचल पुस्तक भण्डार, नई दिल्ली, 1994
- वीर भारत तलवार, **हिन्दू नवजागरण की विचारधारा: समालोचना का एक प्रयास,** भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2001
- वैभव सिंह, **इतिहास और राष्ट्रवाद,** आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2007
- वैभव सिंह, **भारतीय उपन्यास और आधुनिकता**, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2012
- शिवकुमार मिश्र, **मार्क्सवाद देवमूर्तियाँ नहीं गढ़ता,** नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
- श्यामसुन्दरदास, **साहित्यालोचन**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 2010
- शिवदान सिंह चौहान, **आलोचना के मान,** स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
- शिवदान सिंह चौहान, **हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष,** स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- शिवनारायण श्रीवास्तव, **हिन्दी उपन्यास,** सरस्वती मंदिर, काशी, 1968

- शैलबाला (कु०), **हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक विकास** - सत्य सदन, सरावगी, बाराबंकी, 1973
- सत्यप्रकाश मिश्र (संपा०), **बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
- सत्यपाल चुग, **हिन्दी उपन्यास; उदय और उत्कर्ष**, साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
- सुभद्रा, **हिन्दी उपन्यास परम्परा और प्रयोग** - अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, 1974
- सुरेश सिन्हा, **हिन्दी उपन्यास; उद्भव और विकास**, अशोक प्रकाशन, नई सड़क-दिल्ली 1965
- सोमदेव, **कथासरित्सागर** (रूपांतर- राधाबल्लभ त्रिपाठी) नेशलन बुक ट्रस्ट, इण्डिया, 2009
- हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास,** राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013
- हेमंत शर्मा(संपा०), **भारतेंदु समग्र**, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1989
- हेतु भारद्वाज, **हिन्दी उपन्यास; उद्भव और विकास,** पञ्चशील प्रकाशन, जयपुर, 2009
- त्रिभुवन सिंह, **हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद**, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स, प्रा० लि०, वाराणसी, 1997
- त्रिभुवन सिंह, **हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग,** हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1973
- ज्ञानचंद जैन, **प्रेमचन्द पूर्व के हिंदी उपन्यास,** आर्य प्रकाशन मण्डल, सरस्वती भंडार, गाँधी नगर, दिल्ली, 1998

अंग्रेजी की सहायक पुस्तकें

- A. L. Basham, **The Wonder that was India**, Replika Press Pvt. Ltd., 2004
- Daniel Defoe, **Robinson Crusoe**, Wordsworth Edition Limited 1995
- E.V. Ramakrishnan, (Ed.) **Novels in the Search of the Nation**, Sahitya Academy, New Delhi, 2005
- Fakirmohan Senapati, **Makers of Indian Literature**, Sahitya Academy, New Delhi, 2003
- George Lukacs, **The Theory of Novel** (Anna Bostock) translated, Merlin Press, London, 2002
- Meenakshi Mukherjee, (Ed.) **Early Novel in India**, Sahitya Academy, New Delhi, 2000
- Meenakshi Mukherjee, **Realism and Reality**, **the Novel and Indian Society in India,** Oxford University Press, New Delhi, 2005
- Milan Kundera (Translated), **The Art of the Novel**, Linda Asher Feber and Feber, London, 1988
- M. N. Srinivas, **Social Change in Modern India**, Orient Black Swan, New Delhi, 2016
- R. A. Scott James, The Making of Literature, Martin Seeker & Warburg Ltd., London, 1936
- T.W. Clark and George Allen, **The Novel of India, Its Birth and Development,** George Allen and Unvin Ltd. London, 1970

पत्रिकाएं एवं जरनल

- **अभिनव भारती**, 2006-07 तथा 2008-09
- **आलोचना,** अंक- 69, अप्रैल-जून 1984
- **आलोचना,** अंक- 71, अक्टूबर-दिसम्बर 1984
- **आलोचना,** अंक- 76, जनवरी-मार्च 1986
- **कथादेश**, जुलाई तथा अगस्त 2007
- **उद्भव,** अंक-21, अप्रैल-जून 2003
- **हंस** (रहस्य अपराध वार्ता), मार्च 2017
- **गोदारण,** अक्टूबर- दिसम्बर 2010
- **बहुवचन,** अंक – 07, अप्रैल-जून**, 2001**
- **वागर्थ,** अप्रैल, 1996
- **द जनरल ऑफ़ एशियन स्टडीज़**, वाल्यूम 34, नंबर 4, अगस्त 1973
- **मेडिकल हिस्ट्री**, वाल्यूम 42 (3), जुलाई 1998